...irection at a distance of three cubits to the east of the tree at a depth of 16... at first, then dove-colour-clay, and further at a depth of one cubit, there will be that a little brackish water.

शोणाकतरोरपरोत्तरे शिरा द्वौ करावतिक्रम्य
कुमुदा नाम शिरा सा पुरुषत्रयवाहिनी भवति।

There is a water-vein named Kumuda, which flows at a depth of 15 to the north-west of a Sonaka tree in a waterless tract.

(In the अमरकोश स्योनाक and शोणक are given as synonyme.)

आसन्नो वल्मीको दक्षिणपार्श्वे विभतीकस्य य
अध्यर्धे भवति शिरा पुरुषे ज्ञेया दिशि प्राच्याम्।

Should there be an ant-hill closeby to the south of a Beleric Myrobalan a distance of 2 cubits to its east and at a depth of 7½ cubits.

It is interesting to note that on the few occasions that people have both indeed been found in the area.

श्री माण्डूक्योपनिषद्

अमेरिका अन्तरिक्ष एजेन्सी NASA (national Aeronautics and Spac... पुरुषोत्तम श्रीराम के द्वारा निर्माण कराये गये सेतु–बन्ध, रामेश्वरम् के चित्र... द्वारा खींचे हैं। यह पुल लगभग 30 कीलोमीटर लम्बा है और पत्थरों को ... आयु का आंकलन NASA द्वारा करने पर पता चला है कि यह पुल 17 ला...

उपोद्घात

निखिल ब्रह्माण्ड में एक ही सच्चिदानन्द ब्रह्म अधिष्ठान रूप से समाया हुआ है। उस अखण्ड सत्ता को भारतीय मनीषियों और पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी माना है, भले ही उसके स्वरूपावधारण में कुछ वैमत्य भी रहा हो, किन्तु उसकी सत्ता मानने में वैमत्य नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत होने वाला सम्पूर्ण विश्व उसका विस्तार होने से उसी की महिमा गा रहा है। अपौरुषेय वेद वाणी उसी ब्रह्म के गीत गा रही है। सम्पूर्ण प्रयत्नों का अन्तिम प्राप्तव्य पदार्थ भी वही है। उसी को प्राप्त कर प्राणी शाश्वतशान्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। इन बातों को वेद के शिरोभाग वेदान्त वाक्य एकस्वर से डिण्डिम उद्घोष द्वारा बतला रहे हैं।

कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन काण्डों में वेद विभक्त है। इनमें से ज्ञानकाण्ड यानी वेद के अन्तिम भाग को वेदान्त या उपनिषद् कहते हैं। संहिता और ब्राह्मण दोनों ही भाष्यों में उपनिषद् मिलती है। इस समय २२० उपनिषदें उपलब्ध हैं, जो अनेक भाषाओं में छप चुकी हैं। उपनिषदों का समन्वय ब्रह्मसूत्रों में हैं और श्रीमद्भागवद्गीता इन्हीं का संक्षिप्त रूप है। प्रारम्भ की ईशादि दश उपनिषद् के ऊपर श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य जी का भाष्य है। प्रस्तुत माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग की है। कलेवर में छोटे होने पर भी इसका महत्त्व अन्य उपनिषदों से कम नहीं है। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अथर्ववेदीय महावाक्य इसी उपनिषद् का है। इस पर श्रीगौडपादाचार्य जी की कारिकायें प्रसिद्ध हैं। इनमें अजातवाद का विशुद्ध स्वरूप दीख पड़ता है। ये कारिकायें श्री गौडपादाचार्य जी की अनुकम्पा से भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य जी को प्राप्त हुईं। श्रीशङ्कराचार्य जी ने मूल उपनिषद् मन्त्रों के साथ ही माण्डूक्य कारिका पर भी भाष्य लिखा जो अद्वैत वेदान्तानुरागी के लिये अत्यन्त प्रिय एवं श्रद्धेय हैं। सभी कारिकायें चार प्रकरणों में विभक्त

हैं, जो १. आगमप्रकरण, २. वैतथ्यप्रकरण, ३. अद्वैतप्रकरण तथा ४. अलातशान्तिप्रकरण नाम से प्रसिद्ध हैं। 'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये' के अनुसार मोक्षाभिलाषी पुरुष के लिये केवल माण्डूक्य उपनिषद् ही मोक्ष प्राप्ति कराने में पर्याप्त है। अतः मुमुक्षु को सदा इसका मनन करना चाहिये।

कारिका सहित माण्डूक्य उपनिषद् के रहस्य जानने के लिये शाङ्करभाष्य का गुरुमुख से अध्ययन करना अत्यावश्यक है। पर शाङ्करभाष्य को समझने के लिये इसकी आनन्दगिरि टीका आदि का आश्रय लेना आवश्यक है। जो लोग आनन्दगिरि टीका नहीं पढ़ सकते, या जिनके पास समय का संकोच है, किन्तु सकारिकामाण्डूक्योपनिषद् शाङ्करभाष्य का तात्पर्य समझना चाहते हैं, ऐसे अधिकारिओं के लिये हमने इसकी आनन्दगिरि टीका आश्रय लेकर शाङ्करभाष्य के आशय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आशा है कि वेदान्तानुरागी तत्त्वजिज्ञासु इसका मनन कर शाङ्करभाष्य के आशय समझकर लाभ उठायेंगे। कलेवर बढ़ने के भय से स्वल्पाक्षर में ही अभिप्राय वतलाने का प्रयत्न किया है। इसीलिये इसका नाम मिताक्षरा रखा गया है। यद्यपि इसके हिन्दी में अन्य अनुवाद भी प्रकाशित हैं, किन्तु उनसे ग्रन्थ का आशय अभिव्यक्त नहीं होता। ऐसी प्रसिद्धि पाठकों में देखी जाती है। अतः राष्ट्रभाषा हिन्दी में इसकी व्याख्या करना आवश्यक समझकर यह प्रयास किया गया है। इसकी हिन्दी व्याख्या करने में हमारी प्रवृत्ति का मुख्य हेतु श्री लोकेशानन्द जी शास्त्री तथा श्री उमेशानन्द जी शास्त्री एम० ए० का आग्रह ही है। आशुतोष भगवान् इसका श्रेय इन्हीं सन्तों को देवें।

इसकी व्याख्या को लिपि वद्ध करने में श्री स्वामी पञ्चानन्द जी का परिश्रम भी प्रशंसनीय है। इसके प्रकाशन में श्रीमान् नीलुभाई अहमदाबाद निवासी ने आर्थिक सहयोग प्रदान कर हमारे प्रयत्न को मूर्तिमान् किया है। सम्पादन एवं प्रूफ संशोधन में श्री लोकेशानन्द जी शास्त्री आदि महानुभावों का सहयोग भी प्रशंसनीय हैं। अतः हम उक्त सभी सज्जनों की मंगलकामना करते हैं। इत्योंशम्।

पुरुषोत्तममास
२०२९ वि०

भगवत्पादीयः
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि

विषय-सूची

क्रम सं०　　　　　　विषय

क्र. सं०	विषय		पुष्ठ

—o*o—

श्री कैलासपीठाधीश्वर

यतीन्द्र कुलतिलक महामण्डलेश्वर १००८ स्वामी

विद्यानन्दगिरीजी महाराज

वेदान्त–सर्वदर्शनाचार्य

तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

गौडपादीयमाण्डूक्यकारिकासहिता

अथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषत्

श्रीविद्यानन्दीमिताक्षरासंवलितशांकरभाष्यसमेता ।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भाव :—हे देवताओं (आपकी कृपा से हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्दों को सुनें। आँखों से कल्याणप्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म में हम समर्थ होवें तथा दृढ़ अवयवों और शरीरों से स्तुति करनेवाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण करें। महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। परम ज्ञानवान् पूषादेव हमारा कल्याण करें। सम्पूर्ण आपत्तियों के लिए चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें तथा देवगुरु वृहस्पति हमारा कल्याण करें। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।

(अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं भाष्यम्)

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥१॥

शाङ्करभाष्य-विद्यानन्दीमिताक्षरा

मङ्गलाचरण व्याज से विधिमुखेन वस्तु प्रतिपादन

जो ब्रह्म वृक्षादि स्थावर और मनुष्यादि जंगम प्राणी-समुदाय को व्याप्त कर लेने वाली जन्मादि विकार रहित कूटस्थ ज्ञानीय-चिदाभास रूप-रश्मियों के विस्तार से सम्पूर्ण लोकों को जाग्रद-वस्था में व्याप्तकर त्रिपुटी के द्वारा स्थूल-विषय जन्य सुख-दुःखादि का अनुभवकर, जाग्रत के कारण धर्माधर्म के नष्ट हो जाने पर और स्वप्न के हेतुभूत कर्म के उद्बुद्ध होने पर पुनः स्वप्नावस्था में बुद्धि से प्रकाशित वासनाजन्य (अविद्या, काम तथा कर्म से उत्पन्न) सम्पूर्ण भोगों को भोगता है। तत्पश्चात् सुषुप्तावस्था में उन सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्मरूप विषय विशेषों को अज्ञान से आवृत आत्मा में

यो विश्वात्मा विधिजविषयान्प्राश्य भोगान्स्थविष्ठान्-
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवाञ्ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥२॥

विलीनकर माया के द्वारा मायाकृत इस सभी जीवों को सुख दुःखादि का अनुभव कराता हुआ स्वयं आनन्द भुक् होकर शयन करता रहता है, एवं जो जन्म मरणादि रहित होने के कारण परम अमृत और अजन्मा ब्रह्म माया से ही चतुर्थ संख्या वाला है उस तदर्थ ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। (इस श्लोक में मंगलाचरण के व्याज से जीव ब्रह्म के एकतारूप विषय को सूचित किया है। माया के द्वारा उक्त सम्पूर्ण व्यापार ब्रह्म में होते हैं, इससे यह स्पष्ट हुआ कि ब्रह्मके स्वरूप में कोई व्यापार नहीं है। इसीलिये ब्रह्म के विशेषण परम् अमृतं और अजं दिये गये हैं।) ॥१॥

निषेध मुख से वस्तु प्रतिपादन

जो पंचीकृत पंचमहाभूत एवं उनके कार्यरूप स्थूल जगत् में अभिमान करने के कारण विश्वात्मा हो जाग्रदवस्था में विधि, निषेध कर्म जन्य स्थूल विषयों को त्रिपुटी के द्वारा भोगकर पश्चात् स्वप्नावस्था में जाग्रत् के हेतुभूत कर्मों के नाश होने पर और स्वप्न के कर्म उद्बुद्ध होने पर स्थूल, विषयों से भिन्न अपनी बुद्धि से परिकल्पित अविद्या, काम तथा कर्म से उत्पन्न सूक्ष्मविषयों को अपने ही प्रकाश से भोगता है। पुनः उक्त दोनों ही प्रकार के कर्मों के उपरत हो जाने पर धीरे धीरे इन सभी को अज्ञान से आवृत अपने स्वरूप में स्थापित कर सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म विषयों का परित्याग कर गुणातीत हो जाता है, वही तुरीय परमात्मा हम व्याख्याता एवं श्रोता सब किसी की विघ्न बाधाओं को दूरकर मोक्ष तथा उसके हेतु ब्रह्मविद्या प्रदान द्वारा रक्षा करे ॥२॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। वेदान्तार्थं सारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते अत एव न पृथक्संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि। यान्येव तु वेदान्ते संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति। तथाऽपि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि।

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पार

सम्बन्ध निरूपण

ॐ यह अक्षर ही यह सब कुछ है। उसी का व्याख्यानरूप वेदान्तार्थ का सार संग्रह भूत यह चार प्रकरण वाला ग्रन्थ ॐ इत्येतदक्षरमिदमित्यादि मंत्रसे प्रारंभ किया जाता है (शारीरक सूत्र को वेदान्त कहते हैं, जिसमें अधिकारी का निरूपण, गुरु उपसत्ति, तत् पदार्थ शोधन, उन दोनों की एकता, विरोध परिहार, साधन तथा फल रूप अर्थ बतलाये गये हैं। जिसका सार है जीव ब्रह्म की एकता। उसका अच्छी प्रकार से ग्रहण इस ग्रन्थ में कराया गया। अतः शास्त्र के एक देश से सम्बद्ध होने के कारण यह ग्रन्थ प्रकरण रूप है तथा निर्गुण वस्तु मात्र का प्रतिपादन होने से इसका व्याख्या करना भी आवश्यक हो जाता है। वेदान्त का सार संग्रह रूप यह प्रकरण ग्रन्थ है।) इसीलिए इसके सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन पृथक से बतलाना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वेदान्त शास्त्र में जो सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन कहे गये हैं, वे ही इस ग्रंथ में भी संभव हैं, ऐसी परिस्थिति में उक्त सम्बन्धादि का प्रतिपादन अनावश्यक होने पर भी प्रकरण व्याख्या करने की इच्छा वाले व्यक्ति को संक्षेप में उनका वर्णन करना चाहिए, ऐसा व्याख्याता का अभिप्राय है, क्योंकि कारिका तथा भाष्य दोनों में उक्त सम्बन्धादि का निरूपण न होने पर इसमें अश्रद्धा का प्रसंग आ सकता है।

शास्त्र और प्रकरण दोनों ही का प्रयोजन मोक्ष है इस स्थिति में

ष्पर्येण विशिष्टसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति।

किं पुनस्तत्प्रयोजनमित्युच्यते। रोगार्तस्यैव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता तथा दुःखात्मकस्याऽऽत्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता। अद्वैतभावः प्रयोजनम्। द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्याऽऽरम्भः क्रियते। "यत्र हि द्वैतमिव भवति (बृ० २।४।१४)। यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात् (बृ० २।४।१४)। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्" (बृ० ४।३।३१) इत्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः।

ऐसे प्रयोजन वाले साधनों का स्पष्टरूप से बोधक होनेके कारण अपने प्रतिपाद्य विषय के साथ यह शास्त्र प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध वाला है। अतः परम्परा से अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विशिष्ट सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन वाला यह शास्त्र हो जाता है।

पूर्व पक्ष—अच्छा तो फिर इस शास्त्र का वह प्रयोजन क्या है?

सिद्धान्ती—सिद्धान्ती कहते हैं जैसे—रोगग्रस्त पुरुष के रोग निवृत्त हो जानेपर स्वस्थता, नीरोगता आ जाती है, वैसे ही "मैं दुःखी हूं" इस प्रकार दुःख में अभिमान करने वाले आत्मा को तत्त्वज्ञान द्वारा द्वैत की निवृत्ति होने पर स्वस्थता यानी आत्मनिष्ठा प्राप्त होती है। अतः अद्वैत भाव ही इस ग्रंथका प्रयोजन है। द्वैत प्रपंच अविद्या से उत्पन्न हुआ है, उसकी निवृत्ति विद्या से ही हो सकती है। इसीलिए ब्रह्म विद्या को बतलाने के लिए इस प्रकरण ग्रंथ का आरंभ किया जाता है। इस विषय में निम्नाङ्कित श्रुतियाँ प्रमाण हैं। "जिस अविद्यावस्था में द्वैत के जैसाहोता है" "जिस अविद्यावस्था में भिन्न के समान होवे, उसी अवस्था में अन्य अन्य को देख सकता है और अन्य अन्य को जान सकता है" "जिस तत्त्वज्ञानावस्था में इस तत्त्वज्ञानी के लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ वह

तत्र तावदोंकारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधान-मात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्। यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्तौ रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः। तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्। तथाऽद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्। अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि सन्ति तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्।

किससे किसको देखे और कौन किससे किसकोजाने" इत्यादि श्रुतियों से इसी अर्थ की सिद्धि होती है (कि अविद्या के कार्य द्वैत प्रपंच का उपशम विद्या द्वारा ही होता है)।

इस प्रकार अनुबन्ध चतुष्टय वर्णन से ग्रंथ का आरंभ करना आवश्यक सिद्ध हुआ। इसलिये अब चारों प्रकरणों के प्रमेय वस्तु का संक्षेप से वर्णन करते हैं, कि इन चारों प्रकरणों में से पहला प्रकरण तो ओंकार अर्थ निर्णय के लिये कहा गया। इसीलिये वह श्रुति प्रधान है और आत्मतत्त्व बोध का श्रेष्ठतम साधन है। जिस द्वैत के निवृत्त होनेपर अद्वैत तत्त्व का बोध वैसे ही हो जाता है जैसे रज्जु में कल्पना किये गये सर्प आदि के निवृत्त हो जाने पर रज्जु के स्वरूप का बोध हो जाता है। उस द्वैत में युक्ति पूर्वक मिथ्यात्व बतलाने के लिये वैतथ्य नामक द्वितीय प्रकरण कहा गया है। वैसे ही कोई अद्वैत के मिथ्यात्व का प्रसंग न लावे, इसलिये अद्वैततत्व में अनेक दृढतर युक्तियों के द्वारा सत्यत्व बतलाने के लिये अद्वैत नामक तृतीय प्रकरण कहा गया है, एवं अद्वैत तत्त्व के पारमार्थिकत्व के विरोधी जितने पक्ष हैं जो कि अवैदिक हैं, वे परस्पर विरोधी होने के कारण सभी मिथ्या हैं। इस प्रकार उन्हीं की युक्तियों द्वारा उनके मतों का खण्डन करने के लिये अलातशान्ति नामक चतुर्थ प्रकरण कहा गया है।

"आगमप्रकरणम्"

कथं पुनरोंकारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इति। उच्यते "ओमित्येतत्"। (क०१।२।१५) "एतदालम्बनम्।" (क्र० १।२।१७) "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति" (प्र० ५।२) "ओमित्यात्मानं युञ्जीत"। (मैत्र्यु० ६।३) "ओमिति ब्रह्म"। (तै० १।६।१) ओंकार एवेदं सर्वम्" (छा० २।२३।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्याऽऽस्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्याऽऽस्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चःप्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओंकार एव।

स चाऽऽत्मस्वरूपमेव। तदभिधायकत्वात्। ओंकारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति।

पूर्वपक्षः—ओंकार स्वरूप का निर्णय आत्मतत्त्व प्राप्ति का उपाय है यह कैसे समझा जाय ?

सि०:—सिद्धान्ती कहता है "ॐ यही वह पद है यह ओंकार आलम्बन ही श्रेष्ठ है। अर्थात् प्रतिमा में विष्णुदृष्टि के समान ब्रह्मदृष्टि से उपासना किया गया ओंकार ब्रह्म प्राप्ति का साधन है" "हे सत्यकाम! यह ओंकार ही पर-अपर ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने योग्य है" "ओम् इस प्रकार आत्मा का ध्यान करे" (ऐसा करने पर बाध सामानाधिकरण्य रूप से—समाहितचित्त पुरुष को—ब्रह्म का बोध हो जाता है।) "ओम् यही ब्रह्म है" "यह सब ओंकार स्वरूप ही है" इत्यादि श्रुतियों से ओंकार को आत्मतत्त्व प्राप्ति का साधन माना है। जैसे सर्पादि विकल्पों का अधिष्ठान रज्ज्वादि हैं। ठीक वैसे ही प्राणादि समस्त विकल्पों का आश्रय परमार्थ सत्य होता हुआ भी अद्वितीय आत्माही अधिष्ठान है। एवं प्राणादि विकल्पों को बतलाने वाला संपूर्ण वाक् समूह ओंकार ही है और वह ओंकार

हरिः ॐ । ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥

['ॐ' ओम् यह अक्षर ही यह सब रूप है, भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीन काल में वर्तमान वस्तु तो उसी का स्पष्ट व्याख्यान है। अतः यह सब ओंकार स्वरूप ही है। इसके अतिरिक्त त्रिकालातीत जो अन्य वस्तु हैं वे भी ओंकार स्वरूप ही हैं ॥१॥]

"वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० ६।१।४) "तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्"। सर्वं हीदं नामनि" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्। अभिधानस्य चोंकाराव्यतिरेकादोंकार

आत्मा का शक्तिवृत्ति एवं लक्षणावृत्ति से बोधक होने के कारण आत्मस्वरूप ही है तथा ओंकार के विकाररूप शब्द-विशेष के प्रतिपाद्य विषय आत्मा के विकल्परूप समस्त प्राणादि प्रपञ्च हैं। अतः वे भी अपने-अपने प्रतिपादन शब्द से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, जैसा कि कहा गया है; "समस्त कार्यजगत् विशेष-विशेष, शब्द रूप सूत्र द्वारा नाममयी रज्जु से व्याप्त है"। यह सब सामान्य विशेषरूप पदार्थ समुदाय नाममय ही तो हैं" इत्यादि श्रुतियों से यही सिद्ध होता है। अतः ओंकार को आत्मतत्त्व प्राप्ति का उपाय रूप से श्रुति भी कहती है।

ॐ यह अक्षर ही यह सब कुछ है, क्योंकि यह जो कुछ वाच्यरूप पदार्थ समूह है वह अपने वाचक से अभिन्न है और सम्पूर्ण अभिधान रूप भी ओंकार से अभिन्न होने के कारण ओंकार स्वरूप ही है।

एवेदं सर्वम्। परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेवगम्यत इत्योंकार एव। तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्यो-पव्याख्यानम्। ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद् ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः। भूतं भवद्भ-विष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योंकार एवोक्तन्यायतः। यच्चा-न्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्यों-कार एव ॥१॥

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेपि अभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्याभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनर-भिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः। इतरथा ह्यभिधानतन्त्राऽभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात्। एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधे-ययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रति-पद्येतेति। तथा च वक्ष्यति—"पादा मात्रा मात्राश्च पादाः" (मा० ८) इति। तदाह—

इसलिये वाच्य वाचक सम्पूर्ण कार्य समूह ओंकार ही है, किंबहुना परब्रह्म भी वाच्य-वाचकरूप उपाय से ही जाना जाता है। अतः वह भी ओंकार स्वरूप ही है। इस प्रकार यह जो पर एवं अपर ब्रह्म-स्वरूप "ओम्" अक्षर है उसी का उपव्याख्यान किया जाता है। क्योंकि यह ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से अत्यन्त निकटवर्ती रूप से विस्पष्ट कथन करता है। अतः उसी का उपव्याख्यान "प्रस्तुतं वेदितव्यम्" (प्रस्तुत जानना चाहिये) ऐसा यहाँ वाक्य शेष है।

भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् इन तीनों कालों से परिच्छिन्न जो कुछ वस्तु है, वह भी पूर्वोक्त न्यायानुसार ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत अपने कार्य से जानने योग्य एवं काल

सर्वंᳬ ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

[(जिन्हें ओंकारमात्र कहा गया है) यह सब ब्रह्म ही है, यह अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है, वही यह आत्मा चार पादोंवाला है ॥२॥]

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मेति। सर्वं यदुक्तमोंकारमात्रमिति तदेतद् ब्रह्म। तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति—अयमात्म-

---

परिच्छेद से शून्य अव्याकृत और हिरण्यगर्भादि है, वह ओंकार ही है ॥१॥

ॐकार वाच्य ब्रह्म को सर्वरूपता

वाचक और वाच्य का अभेद होने पर भी उक्तमन्त्र में वाचक की प्रधानता से "ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है" इत्यादि रूप से निर्देश किया गया है। वाचक की प्रधानता से बतलायी गयी वस्तु का पुनः वाच्य की प्रधानता से बतलाना इसलिये आवश्यक है कि वाचक और वाच्य का अभेद बोध हो जावे। अन्यथा वाचक के अधीन वाच्य का बोध मात्र कराने से वाच्य का वाचक रूप होना गौण है। ऐसी आशंका हो सकती थी ? इस प्रकार वाच्य और वाचक के अभेद बोध से एक प्रयत्न द्वारा ही दोनों का लय चिन्तन करते हुए इनसे विलक्षण ब्रह्म का बोध हो जाये, यह प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जायेगा। ऐसा ही "पाद ही मात्राएँ और मात्राएँ ही पाद हैं" यह श्रति आगे बतलायेगी। इसी बात को अब श्रुति स्वयं कहती है।

यह सब ब्रह्म ही है अर्थात् जिसे ओंकार मात्र कहा गया है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है। जिसे अबतक परोक्ष रूपसे कहा गया था,

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंश-तिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

[जिसकी अभिव्यक्ति का स्थान जाग्रद् अवस्था है (बाह्य विषयों का प्रकाशक होने से) जो बहिष्प्रज्ञ है, सात अंगवाला, उन्नीस मुख-वाला तथा स्थूल विषयों का उपभोक्ता है, वह वैश्वानर आत्मा का पहला पाद है ॥३॥]

ब्रह्मेति। अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाऽभिन-येन निर्दिशति—अयमात्मेति। सोऽयमात्मोंकाराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति। त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः। तुरीयस्य तु पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः।

उसी ब्रह्मका विशेष रूप से प्रत्यक्ष निर्देश इस श्रुति में "यह आत्मा ब्रह्म है ऐसा कहकर करते हैं। इस मन्त्र में "अयम्" इस शब्द से चतुष्पाद रूप में विभक्त किये जाने वाले आत्मा को ही अभिनय के द्वारा "अयमात्मा ब्रह्म" ऐसा कहते हुए बतलाते हैं। पर और अपर ब्रह्मरूप से व्यवस्थित ओंकार पद वाच्य वह यह आत्मा कार्षापण के समान चार पाद वाला है न कि गो के समान, अर्थात् किसी देश में प्रचलित सोलह पण वाले कार्षापण में जैसे चार अंश काल्पनिक हैं, वैसे ही आत्मा के चार पाद हैं। आत्मा के चार पाद गौ के चार पैर के समान नहीं हैं। विश्व तैजस तथा प्राज्ञ, इन तीनों पादों में से पूर्व-पूर्व के प्रविलय के द्वारा अन्त में तुरीय ब्रह्मात्मा का बोध होता है। इसीलिये विश्वादि तीन पादों में पादशब्द करणरूप से, अर्थात् पद्यते अनेन इति पादः इस प्रकार विग्रह करने पर पाद शब्द बनता है। ऐसे पाद शब्द को करण वाच्य और तुरीय आत्मा में पद्यते गम्यते इति पादः, इस व्युत्पत्ति से पाद शब्द कर्म वाच्य प्रयुक्त हुआ ॥२॥

"कथं चतुष्पात्त्वमित्याह—"

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः। बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाऽविद्याकृताऽवभासत इत्यर्थः। तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" (छा० ५।१८।२) इति अग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाऽऽहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः। तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहंकार-

---

निरवयव आत्मा में चार पाद किसप्रकार हो सकते हैं। इसका उत्तर मन्त्र में दिया गया है।

जाग्रदवस्था जिसका उपलब्धि स्थान है, उसे जागरित स्थान कहते हैं, अपने से भिन्न बाह्य विषयों में जिसकी प्रज्ञा हो, उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं। अर्थात् जो मानो अविद्याकृत बाह्य विषयों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि वाला प्रतीत होता है, वैसे ही सात उसके अंग हैं, "उस इस वैश्वानर आत्मा का द्युलोक शिर है। अत्यन्त तेजस्वी सूर्य उसका नेत्र है। विश्वरूप वायु उसका प्राण है। आकाश उसका धड़ है। अन्नका कारण जल ही मूत्र स्थान है और पृथिवी उसके पैर हैं" इस श्रुति में अग्निहोत्र कल्पना के शेष रूप से आहवनीय अग्नि इसका मुख रूप से बतलाया गया है। इस प्रकार सात अंग जिसके हैं, उस वैश्वानर आत्मा को सप्तांग कहते हैं। एवं उन्नीस उसके मुख हैं, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ ये मिलकर दस, प्राणापानादि पाँच आध्यात्मिक वायु प्राण हैं तथा मन बुद्धि अहंकार और चित्त, ये जिसके मुख के समान बाह्यविषयों के उपलब्धि के साधन हैं। इसीलिये इसे उन्नीस मुख वाला कहा गया है। ऐसे विशेषण से विशिष्ट वह वैश्वानर आत्मा पूर्वोक्त साधनों से

श्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः। स एवं-विशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्त इति स्थूलभुक्। विश्वेषां नराणामनेकधा नयनात् वैश्वानरः। (यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो) विश्वानर एव वा वैश्वानरः। सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात्स प्रथमः पादः। एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य।

'कथमयमात्मा ब्रह्मेति' प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति। नैष दोषः। सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनाऽऽत्मनश्चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः। सर्वभूतस्थश्चाऽऽत्मैको दृष्टः स्यात्। सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि। यस्तु सर्वाणि भूतानीत्यादि-

---

शब्दादि स्थूल विषयों का भोग यानी अनुभव करता है। इसीलिये वह स्थूल-भुक् कहा गया है। सम्पूर्ण नरोंको अनेक प्रकार की योनियों में ले जाने के कारण यह वैश्वानर कहा गया है। अथवा वह सभी नरों से तादात्म्य भाव रखता हुआ सर्वनरस्वरूप है, इसलिये विश्वानर है और स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय कर देने पर विश्वानर ही वैश्वानर है। सभी देहों से अभिन्न होने के कारण वह आत्मा का पहला पाद है। इसके बाद ही तैजस आदि आगे के पादों का बोध हो सकता है। अतः यह पादों में प्रथम माना गया है।

"पूर्व:—"अयमात्मा ब्रह्म" इस श्रुति में इस प्रत्यगात्मा के चार पाद बतलाने का प्रसंग था, फिर भला इस आत्मा के चतुष्पाद प्रसंग में द्युलोकादिको इसके मूर्धादि अंगरूप से कैसे बतलाने लग गये?

सि०:—यह दोष नहीं है। अधिदैव के सहित सम्पूर्ण प्रपंच के चतुष्पात्त्व का बतलाना इसी आत्मा के द्वारा अभीष्ट है। ऐसा होने पर ही सम्पूर्ण प्रपंच के उपशम हो जाने पर अद्वैत तत्त्व का निश्चय हो सकता है। सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा एक है और

श्रुत्यर्थः उपसंहृतश्चैवं स्यात्। अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्। सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात्। इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्। अतो युक्तमेवास्याऽऽध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाऽऽधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम्। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० ५।१२।२) इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च।

विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः। उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे—"यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो

आत्मा में सम्पूर्ण भूत स्थित हैं। इस प्रकार देखना ही अद्वैत निश्चय है। ऐसा करने पर ही "जो सभी भूतों को आत्मा में देखता है" इत्यादि श्रुतियों के अर्थ का उपसंहार हो सकेगा, अन्यथा जैसे अपने देह से परिच्छिन्न प्रत्यगात्मा को सांख्यशास्त्र वालों ने देखा है वैसे ही यहाँ पर भी देखा जायेगा। फिर तो "अद्वैत है" इस श्रुति प्रतिपादित विशेष अर्थ की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि सांख्यादि दर्शनों की अपेक्षा इसमें विशेषता कुछ भी नहीं रह जायगी।

किन्तु सम्पूर्ण उपनिषदों को सर्वात्मैकत्त्व बतलाना ही इष्ट है। अतः इस आध्यात्मिक पिण्ड रूपमें द्युलोकादिको अंग रूप से बतलाना एवं आधिदैविक विराडात्मा के साथ इसका अभेद बतलाये जाने के अभिप्राय से इस चतुष्पाद आत्मा में सप्तांगत्त्व बतलाना उचित ही है। अध्यात्म और अधिदैव के अभेदप्रमाण में "तेरा शिर गिर जाता, यदि तू मेरे पास नहीं आता" इत्यादि श्रौतलिंग भी देखा जाता है।

यहाँ पर जो विराड् के साथ विश्व का एकत्त्व बतलाया गया है, वह हिरण्यगर्भ का तैजस के के साथ और अन्तर्यामी का प्राज्ञ के

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

[जिसका अभिव्यक्तिस्थान स्वप्न है, जो केवल मनरूपी अन्तः-प्रज्ञ वाला है एवं पूर्ववत् सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्म विषयों को भोगने वाला है। ऐसा तैजस ही आत्मा का दूसरा पाद है ॥ ४ ॥]

यश्चायमध्यात्मम (बृ० २।५।१) इत्यादि। सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव। निर्विशेषत्वात्। एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥३॥

स्वप्न स्थानमस्य तैजसस्येति स्वप्नस्थानः। जाग्रत्प्रज्ञाऽनेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्था संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्ष-

---

साथ एकत्त्व का उपलक्षण है। मधु-ब्राह्मण में भी ऐसा कहा गया है। "यह जो पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है तथा यह जो अध्यात्म पुरुष है ये दोनों एक हैं" इत्यादि सुषुप्त और अव्याकृत का अभेद तो सर्व अनुभवसिद्ध ही है, क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण द्वैत के उपशम हो जाने पर अद्वैत ही शेष रहता है, यह बात सिद्ध हो जाती है ॥३॥

आत्मा का द्वितीय पाद

इस तैजस का उपलब्धि स्थान स्वप्न है, इसीलिये यह स्वप्न स्थान वाला कहा गया है। जाग्रत् काल में प्रज्ञा अनेक साधनों वाली मनः-स्पन्दन होती हुई भी बाह्य-विषयों से सम्बद्ध हुई सी प्रतीत होती है और वह उसी प्रकार के संस्कार को मन में डालती भी है। उन संस्कारों से युक्त हुआ वह मन चित्रित पट के समान है। वह बाह्य साधनों की कुछ भी अपेक्षा न कर अविद्या, काम और कर्म से

मविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथा चोक्तम्—"अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादायेत्यादि" (बृ० ४।३।६) इति। तथा "परे देवे मनस्येकी भवति" (प्र० ४।२) इति प्रस्तुत्य "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" (प्र० ४।५) इत्याथर्वणे। इन्द्रियापेक्षयाऽन्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तःप्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत्। द्वितीयः पादस्तैजसः ॥४॥

प्रेरित हुआ जाग्रत् के समान भासता है। वैसे ही कहा भी है कि "सर्व साधन युक्त इस लोक के वासना को लेकर (वासना प्रधान स्वप्न का अनुभव करता)" तथा "इन्द्रियों से उत्कृष्ट भाव वाले मन में सभी इन्द्रियाँ एकीभूत हो जाती हैं" (प्र० ४।२) इस प्रकार प्रारम्भ कर "इस स्वप्नावस्थामें स्वयंप्रकाश स्वप्नद्रष्टा अपनी विभूति का अनुभव करता है" इत्यादि आथर्वण श्रुति में भी कहा गया। बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन के अन्तःस्थित होने के कारण स्वप्नावस्था में जिसकी वासना स्वरूपा अन्तःप्रज्ञा मानी गयी है इसीलिए उस तैजस को अन्तःप्रज्ञ कहा गया है। विषय शून्य के प्रकाशस्वरूप प्रज्ञा में विषयी यानी अनुभव करने वाला होने से यह तैजस कहा गया है। बाह्य विषय वाला होने से जाग्रत् काल में विश्व का भोज्य स्थूल प्रज्ञा है अर्थात् जिस वासनामयी प्रज्ञा में स्थूल विषय हो उस प्रज्ञा को ही स्थूल कहते हैं। विश्वात्मा का भोज्य वही है। किन्तु यहाँ पर स्वप्नावस्था में तो केवल वासनामयी प्रज्ञा भोज्य है। इसीलिये तैजस का भोग सूक्ष्म माना गया है। तात्पर्य यह कि भोज्यत्त्व दोनों अवस्था मे समान रहने पर भी एक में स्थूल विषय है दूसरे में विषय संस्पर्श से शून्य वासना मात्र प्रज्ञा ही भोग है।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

[जिस स्थान या काल में सोया हुआ पुरुष न तो किसी विषय भोग की कामना करता है और न किसी स्वप्न को ही देखता है, उसे ही सुषुप्ति कहते हैं । वह सुषुप्ति ही जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत हो उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय है और आनन्द का भोक्ता तथा चेतनारूप मुखवाला है । वही प्राज्ञ का तीसरा पाद है ॥ ५ ॥]

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात्सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादि विशेषणम् । अथवा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति । पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभ-

---

इसीलिये इसे सूक्ष्म विषय का भोक्ता माना है । सात अंग, उन्नीस मुख विश्वात्मा के समान तैजस का भी समान माना गया है । इस प्रकार यह तैजस आत्मा का द्वितीय पाद है ॥४॥

आत्मा का तृतीय पाद

तत्त्वज्ञानाभाव को सुषुप्ति कहते हैं । ऐसी सुषुप्ति जाग्रत् और स्वप्न में समान ही है । फिर भी स्थूलविषय का दर्शन जाग्रत में होता है और स्वप्न में स्थूलविषय का दर्शन नहीं होता । इन दोनों से पृथक् सुषुप्ति को बतलाने के लिये "यत्र सुप्तः" इत्यादि विशेषण सुषुप्ति के लिये दिये गये हैं । अथवा यों समझो कि तत्त्व का अबोध तो तीनों अवस्थाओं में समान ही होता है । अतः जाग्रदादि तीनों

जते। यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कंचन स्वप्नं पश्यति न कंचन कामं कामयते। न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तद् एतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः। स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातम्। तथा रूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाह सप्रपंचकमेकीभूत-मित्युच्यते। अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनी-

---

अवस्थाओं में अज्ञान रूप निद्रा समान है। फिर भी पहले की दो अवस्थाओं से सुषुप्ति का विभाग करते हैं।

जिस समय और स्थान में सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता है और न किसी भोग को ही चाहता है, क्योंकि पहले की दो अवस्थाओं के समान इस सुषुप्तावस्था में अन्यथा ग्रहण रूप स्वप्न और कोई कामना-विषय भोग नहीं है। वह यह सुषुप्त-स्थान इस प्रज्ञात्मा का है इसलिये यह सुषुप्त स्थान वाला कहा गया है। दोनों स्थानों में विभाग वाला मनःस्फुरण से उत्पन्न द्वैत प्रपञ्च रहते हैं। वे सम्पूर्ण द्वैतजात सुषुप्ति में वैसे ही एकीभूत हो जाते हैं जैसे रात्रि के अन्धकार से दिन आच्छादित हो जाता है। जिस प्रकार दिन के समस्त पदार्थ अपना रूप त्यागे बिना ही रात्रि के अन्धकार में एकीभूत हुए से दीखते हैं वैसे ही मनःस्फुरण से उत्पन्न जाग्रत् स्वप्न के सभी द्वैतप्रपंच अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाते हैं। इसीलिये इन्हें एकीभूत होना कहा गया है। अतएव स्वप्न और जाग्रत् के ये मनःस्फुरण रूप प्रज्ञान जब घनीभूत जैसे हो जाते हैं, तो यह अवस्था अविवेकरूप होने के कारण प्रज्ञानघन शब्द से कही जाती है। यथा-रात्रि के समय रात्रि के अन्धकार के कारण दिन में पृथक्-पृथक् दीखने वाले सभी पदार्थ अविभक्त हुए घनीभूत से प्रतीत होते हैं। वैसे ही यह प्रज्ञानघन भी है। मन्त्र में आये हुए 'एव' शब्द का अर्थ यह है कि प्रज्ञान को छोड़कर अन्य वस्तु वहाँ

भूतानीव सेयमवस्थाऽविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव। एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः। मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नाऽऽनन्द एव। अनात्यन्तिकत्वात्। यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते। अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्। "एषोऽस्य परम आनन्दः बृ० ४।३।३२" इति श्रुतेः। स्वप्नादिप्रतिबोधं चेतः प्रतिद्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः। बोधलक्षणं वा चेतो। द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीतिः। चेतोमुखः भूतभविष्य

कुछ भी प्रतीत नहीं होती। अन्य अवस्थाओं में विषय-विषयी आकाररूप से मन का स्पन्दन हो रहा था। इसीलिये उस आयास से दुःख भी वहाँ प्रतीत होता था, अब इस सुषुप्तावस्था में उक्त आयासरूप दुःख का अभाव हो जाने के कारण यह आनन्दमय अर्थात् प्रचुर आनन्द वाला हो गया है, आनन्द मात्र नहीं है, क्योंकि यह आनन्द आत्यन्तिक नहीं है। जैसे लोक में आयासरहित बैठा हुआ पुरुष सुखी और आनन्दभुक् कहा जाता है। वैसे ही यह सुषुप्ति की स्थिति भी अत्यन्त आयास शून्य है। उस समय जीव इस स्थिति को अनुभव करता है इसीलिये इसे आनन्द भुक् कहा गया है। "यह स्वरूपानुभव आनन्द इसका उत्कृष्ट है।" ऐसा श्रुति भी कह रही है। स्वप्नादि अवस्था के ज्ञानरूप चेतना के लिये यह द्वार है। इसीलिये इसे चेतोमुखकहा गया है अथवा स्वप्नादि प्राप्ति के लिये बोध स्वरूप चेतन ही इसका द्वार यानी मुख माना गया है अतः इसे चेतोमुख कहा गया है। भूत एवं भविष्यत् का ज्ञातृत्व, किंबहुना सम्पूर्ण विषयों का ज्ञातृत्व भी इसी में तो है, क्योंकि कारण रूप से सारा ज्ञान इस प्रज्ञात्मा में स्थित रहता है। इसीलिये इसे प्राज्ञ कहा गया है। यद्यपि सुषुप्त में सम्पूर्ण विशेष विज्ञान का अभाव है तथापि

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

[यह प्राज्ञ आत्मा सबका शासक ईश्वर है। यह सर्वज्ञ, यही अन्तर्यामी और सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पत्ति तथा लय का एक मात्र स्थान होने के कारण (किसी न किसी प्रकार से) वह सबका कारण भी है ॥६॥]

ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः। इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव। "प्राणबन्धनं हि सोम्य

जाग्रत् एवं स्वप्न में इसी का ज्ञातृत्व तो था। इसीलिये यह भूतपूर्वगति से प्राज्ञ कहा गया है। इस प्रकार प्राज्ञ शब्द का मुख्यार्थ सुषुप्तात्मा में घटता नहीं। अतः 'अथवा' शब्द से भाष्यकार कहते हैं। अथवा केवल प्रज्ञप्ति मात्र इसी का असाधारण रूप है। "प्रकृष्टा प्रज्ञा, प्रज्ञा एवं प्राज्ञः" इस व्युत्पत्ति से प्राज्ञ शब्द का मुख्य अर्थ इसमें घट जाता है। अन्य दो अवस्थाओं में विषयविशेष विज्ञान ही होता है। अतः वह यह सुषुप्त आत्मा प्राज्ञ ही तीसरा पाद है ॥५॥

प्राज्ञ की सर्व कारणता

अपने स्वरूप में स्थित यह प्राज्ञ ही अधिदैव के सहित सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च का शासक होने से सर्वेश्वर है। अन्य मतावलम्बियों की तरह इस प्राज्ञ से भिन्न शासक ईश्वर को वेदान्त सिद्धान्त में नहीं माना जाता है, क्योंकि; वेदान्त सिद्धान्त में न्याय के जैसे तटस्थ

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

(अथ गौडपादीयकारिकाः)

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥१॥

[कारिकार्थ :—व्यापक विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है, तथा प्राज्ञात्मा प्रज्ञानघन है। इस प्रकार एक ही आत्मा तीन तरह से कहा गया है ॥१॥]

मनः छा० ६।८।२" इति श्रुतेः। अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताऽप्येष एव। अतएव यथोक्तं सभे जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य। यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ॥६॥

अत्रैतस्मिन्यथोक्तेऽर्थे एते श्लोका भवन्ति ।

ईश्वर नहीं माना गया है। इस विषय में 'हे सोम्य ! यह मन (उपाधिवाला जीव) प्राणात्मक ब्रह्मरूप बन्धनवाला है' यह श्रुति भी प्रमाण है। सम्पूर्ण भेद प्रपञ्च में स्थित हुआ यह प्राज्ञ ही सबका ज्ञाता है, इसीलिये यह सर्वज्ञ है और यही समस्त प्राणियों के भीतर प्रवेशकर नियमन करता हुआ अन्तर्यामीरूप नियन्ता भी है। अतएव पूर्वोक्त भेदवाला सम्पूर्ण जगत् इसी से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह सबका कारण भी है जिससे सबका प्रभव और प्रलय होता है। इसीलिये सम्पूर्ण भूतों का प्रभाव और अप्यय (विलय स्थान) भी यह प्राज्ञ ही है ॥६॥

आत्मा के तीन भेद

यहाँ पर इस पूर्वोक्त अर्थ में आचार्य गौड़पाद के श्लोक हैं, 'बहिष्प्रज्ञ' इत्यादि।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥२॥

[विश्वात्मा दक्षिणनेत्र रूप स्थान में रहता है, तैजस मन के भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाश में रहता है, (ये तीनों ही विश्वादि के उपलब्धि स्थान हैं ।) इस प्रकार एक ही आत्मा शरीर में तीन रूप से व्यवस्थित है ॥ २ ॥]

बहिष्प्रज्ञ इति । पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोऽहमिति स्मृत्या प्रतिसंधानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्त- त्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः । महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः ॥१॥

जागरितावस्थायामेवं विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः—दक्षिणाक्षीति । दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन्प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते । "इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्ष-

---

क्रमशः जाग्रदादि तीन स्थान में स्थित होने से और मैं वही हूं जो पहले सोया और स्वप्न देखा, ऐसी प्रत्यभिज्ञा एवं प्रतिसंधान होने से यही मानना पड़ेगा कि आत्मा तीनों स्थानों से भिन्न एक शुद्ध और असंग है । जैसे किसी नदी में रहने वाला बलवान् मत्स्य नदी के प्रबल वेग से विचलित न होता हुआ नदी के दोनों तटों पर संचरण करता है । अतः वह दोनों तटों से सर्वथा भिन्न है । वैसे ही यह आत्मा क्रमशः तीनों स्थानों में आता जाता रहता है । अतः वह स्थानत्रय से भिन्न एक असंग और शुद्ध है । ऐसी बृहदारण्यक उपनिषद् की महामत्स्य वाली दृष्टान्त श्रुति बतलाती है ॥१॥

विश्वादि के स्थान

जाग्रदादि अवस्थाओं में क्रमशः संचरण करने वाले विश्वादि तीनों को जाग्रत में ही अनुभव कराने के लिये यह श्लोक है, 'दक्षिणाक्षि इत्यादि'। दाहिना नेत्र ही जिसका उपलब्धि द्वार है, ऐसे

न्पुरुषः बृ० ४।२।२" इति श्रुतेः । इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानरः आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः । नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षि(क्ष)ण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी । न । स्वतो भेदानभ्युपगमाम् । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इति श्रुतेः (श्वेता० ।६।११)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । गी० १३।२
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥ इति स्मृतेः गी० १३।१६

सर्वेषु करणेष्वविशेषऽपि दक्षिणाक्षि (क्ष) ण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य । दाक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं

जाग्रत् में प्रधान रूप से स्थूल पदार्थों का द्रष्टा विश्वात्मा दक्षिण नेत्र में ही अनुभव होता है। "यह पुरुष जो दक्षिण नेत्र में स्थित है निश्चय ही वह इन्ध नाम वाला है" ऐसी श्रुति है। प्रकाशगुण वाले वैश्वानर को इन्ध कहा गया है। आदित्य के भीतर विराड मण्डल में रहने वाला आत्मा और नेत्र में स्थित द्रष्टा आत्मा एक ही है।

पूर्वपक्ष—हिरण्यगर्भ समष्टिसूक्ष्मप्रपंचाभिमानी सूर्यमण्डलस्थ भिन्न है और दक्षिणनेत्र में स्थित देहनियन्ता साक्षी शरीराभिमानी भिन्न ही है। ऐसी परिस्थिति में दोनों की एकता कैसे बतला रहे हो ?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनका भेद स्वरूप से नहीं माना गया है। उनके दोनों का भेद तो औपाधिक है। इसीलिये "सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही परमात्म देव समष्टि-व्यष्टि रूप से छिपा हुआ है" ऐसी श्रुति है तथा "हे अर्जुन! सम्पूर्ण शरीरों में क्षेत्रज्ञ आत्मा तो मुझे ही जान। वास्तव में मैं अविभक्त होता हुआ भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त के समान ही स्थित हूं" इत्यादि स्मृति भी कहती है। अतः जीव-ईश्वर का एकत्व श्रुति-स्मृति से सिद्ध है।

पश्यति। यथाऽत्र तथा स्वप्ने। अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव। आकाशे च[२] हृदिस्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति। मनोव्यापाराभावात्। दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनाऽवस्थानम्। "प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते" (छा० ४।३।३) इति श्रुतेः।

तैजसो हिरण्यगर्भो मनःस्थत्वात् "लिङ्गं मनः" (बृ० ४।४।६)।

सम्पूर्ण इन्द्रियों में समान रूप से स्थित होता हुआ दक्षिण नेत्र में उसकी उपलब्धि स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतएव दक्षिण नेत्रमें ही विश्व का निर्देश विशेष रूप से किया गया है। दक्षिण नेत्र में स्थित जीवात्मा रूप को देख पुनः नेत्र बन्द कर मन में उसी का स्मरण करता हुआ वासना रूप से अभिव्यक्त उसी पदार्थ को स्वप्न की भाँति देखता है। जैसे जाग्रदवस्था में होता है वैसे ही स्वप्न में भी होता है। इन दोनों में कोई भेद न होने के कारण यह जाग्रद् में स्वप्न ही तो है। अतः स्थानद्वय में द्रष्टाभेद की शंका न रह जाने के कारण मन के भीतर स्थित तैजस भी विश्व ही है।

वैसे ही स्मरणरूप व्यापार के हट जाने पर हृदयाकाश में स्थित प्राज्ञ, एकीभूत और घन प्रज्ञा वाला है। अर्थात् उस समय विशेष विज्ञान नहीं रहा, क्योंकि मनोव्यापार का अभाव हो गया है। दर्शन और स्मरण मन के स्फुरण ही हैं। उसके हट जाने पर उसे हृदयकाश में निर्विशेष प्राण रूप से स्थित होना माना गया है, यह मानो जाग्रद् में सुषुप्ति है। "यह आध्यात्मिक वायु प्रसिद्ध प्राण वागादि प्राणों को अपने में लीन कर लेता है" इस श्रुति से मन में स्थित होने से तैजस हिरण्यगर्भ स्वरूप है। "सत्रह अवयव वाला लिंग शरीर रूप मन है"। "यह हिरण्यगर्भ रूप पुरुष मनोमय है" इत्यादि श्रुतियों से भी हिरण्यगर्भ और तैजस का अभेद सिद्ध होताहै।

पूर्वपक्ष—सुषुप्तावस्था में प्राण तो नाम-रूप के कारण विशेष-

"मनोमयोऽयं पुरुषः" (बृ ५।६।१) इत्यादि श्रुतिभ्यः। ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते तदात्मकानि करणानि भवन्ति कथमव्याकृतता। नैष दोषः। अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात्।

यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य तथाऽपि पिण्ड-परिच्छिन्नविशेषाभिमानविरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम्। यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमा-निनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृ-तता समाना प्रसवबीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृतावस्थः।

भावापन्न हो रहता है तथा सभी इन्द्रियाँ उस समय प्राण रूप हो जाती है, फिर भला उसमें अव्याकृतरूपता कैसे कह रहे हो ?

सि०—यह दोष नहीं है, क्योंकि अव्याकृतवस्तु में देश-कालादि विशेष का अभाव होता है जो दोनों ही में समान रूप से देखा जाता है। यद्यपि स्वप्नकाल में प्राणाभिमान रहने पर प्राण की व्याकृतरूपता अवश्य है, फिर भी सुषुप्तिकाल में पिण्ड-परिच्छेद विशेष का अभिमान नहीं रहता। मेरे शरीर में यह प्राण चल रहा है ऐसा अभिमान सुषुप्त पुरुष को प्राण के विषय में नहीं रहता। अतः परिच्छिन्न देहाभिमानियों के लिये भी सुषुप्तावस्था में प्राण अव्याकृत ही है। जैसे मर जानेपर परिच्छिन्न शरीराभिमानियों का प्राण अव्याकृत होकर रहता है। वैसे ही प्राणाभिमानियों के भी प्राणाभिमान निरुद्ध हो जाने पर प्राण अविशेषभाव को प्राप्त हो जाता है इसीलिये अव्याकृतरूपता सुषुप्त पुरुष में भी समान ही है। वैसे ही उत्पत्ति की बीजरूपता भी समान ही है। अतः अव्याकृत और सुषुप्त इन दोनों अवस्थाओं का अध्यक्ष भी अव्याकृत अवस्था को प्राप्त हुआ एक ही चेतन है। परिच्छिन्न देहाभिमानी और उनके साक्षी उपाधि-परिच्छिन्न की एकता उसके साथ मानी गयी है। अतः प्रज्ञात्मा को एकीभूत प्रज्ञानघन इत्यादि विशेषण देना युक्तियुक्त है।

परिच्छिन्नाभिमानिनामध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषण-मेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम्। तस्मिन्नुक्तहेतुसत्त्वाच्च।

कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य। "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छा० ६।८।२) इति श्रुतेः। ननु तत्र 'सदेव सोम्य' (छा० ६।२।१) इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्। नैष दोषः। बीजात्मकत्वा-भ्युपगमात्सतः। यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथाऽपि जीव-प्रसवबीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दतत्त्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च। यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् 'नेति नेति' (बृ० ४।४।२।९।४।५।१५) 'यतो वाचो निवर्तन्ते' तै० २।९ 'अन्यदेव तद्वि-

---

इस सम्बन्ध में अध्यात्म और आधिदैव का एकत्वरूप पूर्वोक्त हेतु भी विद्यमान है।

पूर्वपक्ष—फिर भी अव्याकृत को प्राण शब्द से कैसे कह रहे हो?

सि०—हे सौम्य! यह (मन) प्राण यानी ईश्वर के ही अधीन है। इस श्रुति के आधार पर हमने अव्याकृत को प्राणशब्द वाच्य कहा है।

पूर्वपक्ष—पर वहाँ तो 'सदेव सोम्य' इस श्रुति में प्रसंगानुसार सद्ब्रह्म ही प्राण वाच्य है?

सि०—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ पर सद्ब्रह्म को बीज रूप से स्वीकार किया है। निरुपाधिक ब्रह्म से जगत् की सृष्टि नहीं होती। यह ठीक है कि वहाँ प्राण शब्दवाच्य शब्द ब्रह्म ही है। फिर भी जीवों की उत्पत्ति का कारण बीजरूपता ही उसमें है। उस अव्याकृत उपाधि का परित्याग किये बिना ही उस सोपाधिक सद्-ब्रह्म में प्राण शब्द का प्रयोग है और सद्ब्रह्म में सत्शब्द वाच्यता भी है। यदि निरुपाधिक ब्रह्म वहाँ सत् शब्द से बतलाना अभीष्ट होता तो 'यह नहीं, यह नहीं' 'जहाँ से वाणी लौट आती है', 'वह विदित वस्तु से अन्य है और अविदित वस्तु से भी ऊपर है' इत्यादि

दितादथो अविदितात्' (के० १।३) इत्यवद्यत्। 'न सत्तन्नासदुच्यते' (गी० १३।१२) इति स्मृतेः। निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सम्पन्नानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्। मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः। बीजाभावाविशेषात्।

ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः। तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः। अत एव "अक्षरात्परतः परः" मु० २।१।२। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" मु० २।१।२। "यतो वाचो निवर्तन्ते" तै० २।६ "नेति नेति" बृ०

प्रकार से उसे बतलाना चाहिये था। जैसा कि 'वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही' इस स्मृति से शुद्ध ब्रह्म को बतलाया गया है। एवं यदि वहाँ पर सत् शब्द से निर्बीज रूप में ब्रह्म को बतलाना अभीष्ट होता तो सुषुप्ति और मरण में, सद्ब्रह्म में लीन हुए सम्पूर्ण जीवों का पुनरुत्थान सम्भव नहीं होगा और शुद्ध से पुनरुत्थान मानने पर मुक्त पुरुषों के भी पुनर्जन्म का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि शुद्धब्रह्म में लीन हुए सुषुप्त पुरुष और मुक्त पुरुष में बीज का अभाव समान ही है।

ज्ञान से दग्ध होने योग्य अनिर्वचनीय अज्ञान को न मान कर ज्ञान प्रागभाव या मिथ्याज्ञान अज्ञान शब्द का अर्थ करोगे तो ज्ञान का उपदेश अनर्थक हो जायेगा। मैं अज्ञानी हूँ इस प्रकार भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष हो रहा है। ज्ञान प्रागभावादिरूप इस अज्ञान को मानने पर तो इसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा, बल्कि यह अनुपलब्धि प्रमाणगम्य होने लग जायेगा। अतः सद्ब्रह्म को अज्ञान रूप बीज से युक्त स्वीकार करके ही उसे सभी श्रुतियों में प्राण रूप से बतलाया गया है, साथ ही साथ बीज को ही जगत् का कारण कहा गया है। इसीलिये 'वह परमात्मा अक्षर से भी पर है' 'वह कार्य और कारण के सहित उस कल्पना का अधिष्ठान होने से अजन्मा है'

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥३॥
स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥४॥

[विश्वात्मा सदा स्थूल विषयों का भोक्ता है, तैजस सूक्ष्म पदार्थों का भोक्ता है और प्राज्ञ आनन्द का भोग करता है। इस प्रकार विश्वादि का तीन तरह का भोग समझो ॥३॥ स्थूलवस्तु विश्वात्मा को तृप्त करती है, सूक्ष्मपदार्थ तैजस को तथा आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करता है। इस तरह विश्वादि की तृप्ति भी तीन प्रकार की समझो ॥]

४।४।२२ इत्यादिना बीजत्त्वापनयनेन व्यपदेशः। तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसंबन्धरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति बीजावस्थाऽपि न किंचिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्यय-दर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते ॥ २ ॥

उक्तार्थौ श्लोकौ ॥ ३ ॥ ४ ॥

'जिस ब्रह्म के पास से मन के सहित वाणी अवकाश न प्राप्त कर लौट आती है' 'यह नहीं, यह नहीं' इत्यादि श्रुतियों से शुद्ध ब्रह्म का उपदेश सबल ब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है। उस प्राज्ञ शब्द वाच्य जीव को देहादि से सम्बन्ध एवं जाग्रदादि अवस्था से रहित उस पारमार्थिक अज्ञानरूप बीज अवस्था से शून्य तुरीय रूप से पृथक् बतलायेंगे। सुषुप्ति से जगे हुए व्यक्ति को 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मैंने कुछ भी नहीं जाना) ऐसी प्रतीति दीखने से इस वर्तमान देह में ही बीजावस्था का भी अनुभव होता ही है। इसीलिये तो 'वह देह में तीन प्रकार से व्यवस्थित है' ऐसा कारिका में कहा गया है ॥२॥

त्रिविध भोग्य और भोक्ता

तीसरे चौथे श्लोक का अर्थ कहा जा चुका है। अतः यहाँ बत-

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

[(जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन) तीनों स्थानों में जो स्थूल, सूक्ष्म तथा आनन्द नामक भोज्य और विश्वादि उनके भोक्ता बतलाये गये हैं, इन दोनों को जो (उक्तरीति से) जानता है, वह स्थूलादि विषयों को भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता है ॥ ५ ॥]

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकं त्रिधाभूतम्। यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसंधानाद्द्रष्ट्टत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः। यो वेदैतदुभयं भोज्यभोक्तृतयाऽनेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते। भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य

लाना आवश्यक नहीं। अर्थात् विश्व सदा स्थूल विषयों का भोक्ता है। तैजस सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है और प्राज्ञ आनन्द का भोक्ता है। इस प्रकार त्रिविध रूप में भोग्य को जानो। स्थूल वस्तु विश्व को तृप्त करती है। सूक्ष्म तैजस को और आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करती है। अतः तृप्ति भी तीन प्रकार की जानो ? ॥३-४॥

त्रिविध भोक्ता भोग्य ज्ञान का फल

जाग्रदादि तीन स्थानों में जो स्थूल सूक्ष्म और आनन्द नामक एक ही भोज्य तीन रूप से विभक्त है और जो विश्व तैजस प्राज्ञ नामक भोक्ता एक है, क्योंकि 'वह मैं हूँ' इस प्रकार से अनुसंधान होता है और तीनों में द्रष्टृत्व भी समान है। इस प्रकार भोज्य और भोक्ता रूप से अनेक भाव में विभक्त इन दोनों को जो जानता है, वह तीनों अवस्थाओं के भोज्यवस्तु का भोग यानी अनुभव करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि समस्त भोज्य वस्तु एक ही भोक्ता के भोग्य है। विषय से विषयी सदा भिन्न हुआ करता है अतः जिसका जो विषय है, वह विषयी विषय की न्यूनता एवं अधिकता

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून्पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

[विद्यमान सभी पदार्थों की ही उत्पत्ति होती है, ऐसा विद्वानों का निश्चय है। बीजरूप प्राण ही सबको उत्पन्न करता और चेतन पुरुष चिदाभास रूप जीव को (अन्तःकरण भेद से) पृथक्-पृथक् प्रकट करता है ॥ ६ ॥]

भोक्तुर्भोज्यत्वात्। न हि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्धते वा। न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि तद्वत् ॥ ५ ॥

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्पत्तिः। वक्ष्यति च—"वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते" इति। यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद् ब्रह्मणो व्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः। दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना

से ह्रास और वृद्धि को वैसे ही प्राप्त नहीं होता, जैसे अपने विषय काष्ठादि को जलाकर अग्नि अपने स्वरूप में घटता या बढ़ता नहीं, किन्तु सदा समान ही रहता है ॥ ५ ॥

प्राण ही सबका स्रष्टा है

सत्य यानी अपने अविद्याकल्पित नाम-रूपात्ममायिकस्वरूप से विद्यमान विश्व-तैजस तथा प्राज्ञ भेद वाले सभी पदार्थों का ही प्रभव होता है। क्योंकि "असत् वन्ध्यापुत्र न तत्त्वतः और न माया से ही उत्पन्न होता है" ऐसा कारिकाकार स्वयं आगे कहेंगे। यदि स्वरूप से असद् वस्तु का जन्म संभव होता तो सर्वथा व्यवहारायोग्य ब्रह्म के ज्ञान का साधन न होने के कारण उसका भी असत्त्व होने लग जाता, परन्तु अज्ञानकृत मायामय कारण से उत्पन्न रज्जु-सर्पादि की सत्ता अधिष्ठान रज्जुरूप देखी गयी है। क्योंकि कहीं किसी ने

सत्त्वम्। न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्। यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवाऽऽसीत्। एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्म नैव सत्त्वम्। इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति—"ब्रह्मैवेदम्" (मु० ६।२।११) "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।१) इति। सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंशवो ये तान्पुरुषः पृथग्विषयभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत्सलक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्वितरासन्सर्वभावान्प्राणो बीजात्मा जनयति यथोर्णनाभिः (मु० १।१।७) "यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गाः" बृ० २।१।२० इत्यादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

भी विना अधिष्ठान के रज्जु-सर्प, मृगतृष्णिकादि भ्रम नहीं देखे होंगे। जैसे सर्प उत्पन्न (विकल्प) से पूर्व रज्जु में अधिष्ठान रज्जुरूप से सर्प सत् ही था। ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति से पूर्व प्राणात्मक बीज रूप से सर्प की सत्ता विद्यमान ही थी। इसीलिये श्रुति भी कहती है। "यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है" "उत्पत्ति से पूर्व यह सब आत्मा ही था" इत्यादि। सम्पूर्ण जड़ जगत् को बीजात्मा प्राण ही व्यवहार योग्य रूप से उत्पन्न करता है। जैसे सूर्य की रश्मियाँ होती है वैसे ही स्वयं ही प्रकाश चेतन आत्मा के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान प्राज्ञ, तैजस विश्वरूप से देव मनुष्य और तिर्यगादि विभिन्न देहों में प्रतिबिम्बित जो चिदाभास है, उन्हें पुरुष उत्पन्न करता है, जैसे जल में प्रतिबिम्बित सूर्य आकाशस्थ सूर्य से भिन्न नहीं है, ठीक वैसे ही चेतन प्रतिबिम्ब अपने बिम्बभूत चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है। विषय भाव से विलक्षण एवं अग्नि विस्फुलिंग के समान लक्षण वाले जीवों को पुरुष पृथक् ही उत्पन्न करता है। जलगत प्रतिबिम्ब सूर्य के समान समस्त पदार्थों को बीजात्मक प्राण उत्पन्न कराता है। जैसे मकड़ी जाले

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥७॥

[सृष्टि के सम्बन्ध में चिन्तन करने वाले अन्यवादी जगत् के उत्पत्ति का कारण भगवान की विभूति को मानते हैं । वैसे ही अन्य लोगों ने स्वप्न तथा माया के समान इस सृष्टि को माना है ॥७॥]

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः । "[1]इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते बृ. २।५।१९" इति श्रुतेः । न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरोभवति ।

को बनाती है और जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं इत्यादि श्रुतियों से भी यही बात सिद्ध होती है ॥ ६ ॥

सृष्टि के विषय में विकल्प

सृष्टि के चिन्तक लोग मानते हैं कि यह सृष्टि ईश्वर की विभूति यानी विस्तार है । ईश्वर ने अपने ऐश्वर्यख्यापन के लिये सृष्टि की है । अन्यथा सृष्टि के बिना उसके अद्भुत ऐश्वर्य का बोध क्यों कर हो सकता । अभिप्राय यह है कि परमार्थतत्त्व के चिन्तकों की दृष्टि में सृष्टि के प्रति आदर बिल्कुल नहीं है । ऐसे ही "परमेश्वर अपनी उपाधि रूप माया से बहुरूप वाला हो जाता है" । "यह श्रुति भी कहती है, क्या आकाश में धागे फेंक कर शस्त्र के सहित मायावी का उस धागे के सहारे चढ़कर नेत्रेन्द्रिय से ओझल हो जाना और युद्ध के कारण खण्ड-खण्ड टुकड़े होकर पृथिवी पर गिरना, पुनः जीवित हो उठना इत्यादि ऐन्द्रजालिक तमाशा देखने वाले उस मायावी की माया को पारमार्थिक होने की चिन्ता कर उसे आदर

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ ८ ॥

[प्रभु की इच्छामात्र ही सृष्टि है, ऐसा भी किसी-किसी ने निश्चय किया है तथा कालचिन्तक ज्योतिषीलोग काल से ही भूतों की उत्पत्ति मानते हैं ॥८॥]

तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढ-मायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थ-मायावी । स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्तायामेवाऽऽदरो मुमुक्षूणा-मार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति । स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति ॥७॥

देता है ? अर्थात् नहीं देता, ठीक वैसे ही मायावी के सूत्रप्रसारण के समान जीवात्मा में सुषुप्ति और स्वप्नादि का विकास किया और सूत्र पर स्वयं आरूढ मायावी के समान ही उन-उन अवस्थाओं में स्थित प्राज्ञ एवं तैजसादि आत्मा वास्तव में सूत्र तथा उस पर आरूढ़ तदभिमानी चेतन से भिन्न ही सच्चा मायावी है । क्योंकि वह पृथिवी पर स्थित हुआ ही माया से आच्छन्न हो जाने के कारण अदृश्य होकर जैसे वहाँ पर ही स्थित रहता है, वैसे ही तुरीय नामक परमार्थ तत्त्व जाग्रदादि अवस्था तथा उनके अभिमानी चेतन से भिन्न ही रहता है और अविद्या रूप माया से आच्छन्न हुआ अदृश्य सा प्रतीत होता है । अतः उस परमार्थ तुरीय आत्मतत्त्व की चिन्ता में ही मोक्षाभिलाषी श्रेष्ठ पुरुषों का आदर होता है निष्प्रयोजन सृष्टि के चिन्तन में नहीं रहता । अतएव सृष्टि को परमार्थ मानने वालों की दृष्टि में ये विकल्प होते हैं, मायामय मानने वालों की दृष्टि में नहीं । इसीलिए तो "स्वप्नमायास्वरूपेति" इत्यादि वाक्य से दूसरे लोग इस सृष्टि को स्वप्नरूपा और मायास्वरूपा बतलाते हैं ॥७॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

[कुछ लोग भोग के लिए सृष्टि है, ऐसा मानते हैं और कुछ लोग क्रीड़ा के लिये सृष्टि है; ऐसा समझते हैं। वस्तुतः यह भगवान् का स्वभाव हीं है, क्योंकि भला पूर्णकाम परमात्मा में इच्छा ही क्या हो सकती है ॥९॥]

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिःसंकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित् ॥ ८ ॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते। अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति। नहि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥ ९ ॥

सत्य संकल्प होने से परमेश्वर की इच्छा मात्र ही सृष्टि है। घटादि कुलाल के संकल्प मात्र ही हैं। उसके संकल्प से भिन्न नहीं हैं। ऐसा कुछ लोग मानते हैं और कोई कोई कालचिन्तक तो काल से ही जगत् की सृष्टि हुई है ऐसा मानते हैं। दूसरे लोग भोग के लिए सृष्टि मानते हैं। इन दोनों पक्षों में आचार्य गौड़ पाद "यह देव का स्वभाव है" इस वाक्य से देव के स्वभाव पक्ष का अवलम्बन कर दूषण दे रहे हैं और आचार्य "आप्तकामस्य का स्पृहा:" (भला पूर्णकाम को क्या अभिलाषा हो सकती है ?) इस वाक्य में पूर्वोक्त सभी पक्षों में दोष दिखला दिया, क्योंकि अविद्या रूप अपने स्वभाव से भिन्न रज्ज्वादि के सर्पादि प्रतीति होने में कारण नहीं बतला सकते हैं, अर्थात अधिष्ठानरूप रज्जु का स्वभावपद वाच्य अज्ञान ही सर्पादि की प्रतीति में एकमात्र कारण है ॥८-९॥

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति। शून्यमेव तर्हि तत्। न। मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः। न हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम्।

एवं तर्हि प्राणादिसर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वमिति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वमुदकाधारादेरिव घटादेः। न प्राणादिविकल्प-

---

आत्मा का चतुर्थ पाद

अब क्रमशः प्राप्त आत्मा के चतुर्थ पाद का वर्णन होना चाहिए। अतः 'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादि से यही बात श्रुति बतलाती है। शब्द प्रवृत्ति के जाति गुण क्रिया, सम्बन्ध, रूप सभी निमित्त से शून्य होने के कारण यह तुरीय आत्मा शब्द शक्ति का विषय नहीं है। अतः विधिमुख से बतलाना दुःशक्य होने के कारण सभी विशेष भावों का निषेध करके ही तुरीय तत्त्व श्रुति बतलाना चाहती है।

पूर्वपक्ष—तब तो ऐसा वह शून्य हो सकता है?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि बिना निमित्त के मिथ्या विकल्प की सिद्धि नहीं हो सकती। लोक में शुक्ति के बिना रजत की, रज्जु के बिना सर्प की, ठूँठ के बिना पुरुष की और ऊसर भूमि अधिष्ठान के बिना मृगतृष्णिकादि विकल्प को बतलाना सर्वथा अशक्य है।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसी बात है तब तो प्राणादि समस्त विकल्पों का आश्रय होने से तुरीय आत्मा भी शब्द शक्ति का विषय हो ही सकता है। अतः जल के आधारभूत घटादि के समान प्राणादि का आधारभूत जब तुरीय आत्मा है फिर अन्तःप्रज्ञत्वादि के निषेध द्वारा उसका बोध कराना ठीक नहीं।

स्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः। न हि सदसतोः संबन्धः शब्दप्रवृत्ति निमित्तभागवस्तुत्वात्। नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत्। आत्मनो निरुपाधिकत्वात् गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयेन सामान्यविशेषाभावात्। नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात् नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्।

अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति। शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि। न आत्मात्वागमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः। न हि तुरीयस्याऽऽत्मत्वावगमे सत्य-

---

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं। प्राणादि विकल्प शुक्तिकादि में रजतादि के समान सर्वथा मिथ्या है। दो सद्वस्तुओं का ही आधार-आधेय भाव सम्बन्ध हुआ करता है, सत् और असत् का नहीं। उसका सम्बन्ध तो अवस्तु रूप होने से शब्द प्रवृत्ति का निमित्त हो ही नहीं सकता। वैसे ही उपाधि के बिना स्वरूपतः तुरीय गवादि के समान 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति प्रमाण से भिन्न प्रमाण का विषय हो नहीं सकता क्योंकि स्वरूप से आत्मा उपाधि-रहित है। अद्वितीय होने के कारण उसमें सामान्यविशेषभाव भी नहीं है, जिससे कि गो में गोत्त्वजाति रहने के समान आत्मा में किसी जाति का सम्बन्ध माना जा सके। निर्विकार होने से पाचकादि के समान उस तुरीय आत्मा में क्रिया भी नहीं है। वैसे निर्गुण होने से आत्मा में नीलादि के समान गुण भी नहीं है। अतः जात्यादि शब्द प्रवृत्ति के समस्त निमित्त का अभाव होने के कारण किसी भी नाम से उसका निर्देश नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष—तब तो शश-शृङ्गादि के समान तुच्छ होने के कारण यह निष्प्रयोजन ही है?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिज्ञान के बाद जैसे कल्पितरजत तृष्णा की निवृत्ति हो जाती है। ठीक वैसे ही

विद्यातृष्णादिदोषाणां संभवोऽस्ति। न च तुरीयस्याऽऽत्मत्वानवगमे कारणमस्ति। सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्। "तत्त्वमसि छा० ६।८।१६"। "अयमात्मा ब्रह्म बृ० २।५।१९" "तत्सत्यम्। स आत्मा छा० ६।८।१६" "यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म बृ० ३।४।१" "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः मु० २।१।२ "आत्मैवेदं सर्वम् छा० ७।२५।२ इत्यादीनाम्।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसमुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम्। अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाऽह—नान्तःप्रज्ञमित्यादि।

तुरीयतत्त्व को आत्मरूप से जान लेने पर अनात्म वस्तु की तृष्णा निवृत्त हो ही जाती है। तुरीय आत्मा के बोध हो जाने पर अविद्या एवं तत्प्रयुक्ततृष्णादि का रहना सर्वथा सम्भव नहीं है। अतः ज्ञान द्वारा तृष्णानिवृत्ति का कारण होने से आत्मा को शशशृङ्ग के समान तुच्छ नहीं कह सकते और तुरीय को अपने आत्मरूप से बोध न होने में कोई कारण भी नहीं है, 'वह तू है', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'यह सत्य है वह आत्मा है', 'जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है' 'वह अजन्मा बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान है' 'यह सम्पूर्ण दृश्य आत्मा ही तो है' इत्यादि सम्पूर्ण उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य विशुद्ध आत्मतत्त्व के बोध कराने में ही है।

वह यह आत्मा परमार्थ और अपरमार्थरूप से चार पाद वाला है ऐसा पहले कहा गया है। उनमें से रज्जु-सर्पादि के समान बीजांकुरस्थानीय अविद्या-जनित तीन पाद तो अपारमार्थिक कहे जा चुके हैं। अब इसके बाद अधिष्ठान रज्जुस्थानीय अबीजरूप तुरीय परमार्थतत्त्व का सर्पादिस्थानीय पूर्वोक्त तीन स्थानों का निषेध कर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि वाक्य से बोध कराते हैं।

(उपनिषद्) १ अकथनीय

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

[स्वरूप से वह आत्मा न अन्तःप्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः प्रज्ञ, न सुषुप्ति के समान प्रज्ञानघन है। न (एक साथ सभी वस्तुओं का प्रकाशक रूप से) प्रज्ञ है और न (उसके विपरीत रूप से) अप्रज्ञ ही है। वह तो अदृश्य है, अतएव अव्यवहार्य है, कर्मेन्द्रियों से ग्रहण के योग्य न होने से अग्राह्य है। लिङ्गरहित होने से अनुमान के योग्य नहीं। अतः अचिन्त्य है। इसीलिये शब्दों से अव्यपदेश्य है। (जाग्रदादि अवस्थाओं में अव्यभिचारी होने के कारण) एकात्मप्रत्ययसार है। प्रपंच का उपशमरूप, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है, ऐसा आत्मा के विषय में तत्त्ववेत्ता मानते हैं। अतः वही आत्मा है और वही विशेष रूप से जानने योग्य है ॥ ७ ॥]

नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धेनान्तः प्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः। न।

पूर्वपक्ष—आत्मा के चार पाद वाला होने की प्रतिज्ञाकर उसके तीन पादों के वर्णन कर देने मात्र से ही चौथे पाद में अन्तःप्रज्ञादि से भेद जब सिद्ध हो गया फिर भला 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि निषेध अनर्थक ही तो है।

सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्र्यवस्थस्यैवाऽऽत्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तत्त्वमसीतिवत् छा० ६।८।१६।

यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा।

रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते तदा तदाऽन्तःप्रज्ञादित्वप्रतिषेधविज्ञानप्रमाणसमकालमेवाऽऽत्मन्यनर्थप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तमिति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम्।

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि जैसे सर्प जलधारा भूछिद्रादि विकल्प का प्रतिषेध करने से ही रज्जु के स्वरूप का बोध होता है। वैसे ही जाग्रदादि अवस्थात्रय में स्थित अवस्थात्रय से विलक्षण आत्मा का ही तुरीय रूप से बाध करना इष्ट है। जिस प्रकार "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों से 'त्वं' पदार्थ संशोधित आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद बतलाया गया है। वैसे ही अवस्थात्रय से विलक्षण तुरीय आत्मा ब्रह्मरूप है। ऐसा बोध कराना हीअभीष्ट है। इस प्रकार का ज्ञान उक्त उपदेश के बिना हो नहीं सकता। अतः 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि तुरीय ग्रन्थ सार्थक है। उक्त माध्यम के बिना अवस्थात्रय से विलक्षण तुरीय आत्मा अवस्थात्रयविशिष्ट से भिन्न आत्मा की उपलब्धि का कोई उपाय न रहने के कारण शास्त्र उपदेश अनर्थक हो जाता या शून्यवाद का प्रसंग भी आ सकता था। पर सर्पादि रूप से विकल्पित रज्जु के समान जाग्रदादि तीनों स्थानों में आत्मा एक है। उसी का विकल्प अन्तःप्रज्ञत्वादि रूप से हो रहा है। तो इस स्थिति में अन्तःप्रज्ञत्वादि निषेध विज्ञान रूप प्रमाण की जब उत्पत्ति होगी उसी समय आत्मा में अनर्थ प्रपंच की निवृत्ति रूप फल भी सिद्ध हो जायगा। अतः तुरीय आत्मा के बोध के लिये नान्तःप्रज्ञत्वादि प्रतिषेध विज्ञान से भिन्न प्रमाण या साधन खोजने

रज्जुसर्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य येषां पुनस्तमोपनय व्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसंबन्धवियोगव्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपि च्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात्।

यदा पुनर्घटतमसोःविवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमोनिवृत्तिफलावसानं छिदिरिव च्छेद्यावयवसंबन्धविवेककरणें प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नाऽऽन्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम्।

की आवश्यकता नहीं। अतः रज्जु सर्प विवेक होते ही जैसे अधिष्ठान रज्जु में अध्यस्त सर्प की निवृत्ति रूप फल प्राप्त हो जाने पर रज्जु का ज्ञान हो जाता है। ठीक वैसे ही आत्मा में कल्पित अवस्थात्रय एवं तदभिमानी अन्तःप्रज्ञादि का निषेध कर देने पर तत्क्षण ही अधिष्ठान तुरीय आत्मा का बोध हो जाता है।

अन्धकार में स्थित घटज्ञान के लिये अन्धकार के अपनयन से भिन्न व्यापार लोक में नहीं देखा गया है। ठीक वैसे ही स्वयंप्रकाश आत्मा में अनादि अनिर्वचनीय कल्पितअज्ञान निवृत्ति के सिवा उपनिषद् प्रमाण का आत्मबोध के लिये अन्य व्यापार नहीं होता। जिनके मत में घटज्ञान के लिये अन्धकार निवृत्ति से भिन्न कार्य में भी प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। उनके मत में छेदन के योग्य पदार्थों के अवयव सम्बन्ध विच्छेद करने के अतिरिक्त किसी एक अवयव में भी छिदि क्रिया का व्यापार होता है। ऐसे कथन का प्रसंग आ जायगा। छेद्य वस्तु के अवयवों का सम्बन्ध विच्छेद में प्रवृत्त छिदि क्रिया जैसे उसके अवयवों के विभाजन होते ही समाप्त हो जाता है। वैसे ही घट और अन्धकार के पृथक् करने में लगा हुआ प्रमाण अनिष्ट अन्धकार के निवृत्ति रूप फल के बाद उपरत हो जाता है। उस समय घट का ज्ञान अवश्यमेव होता है। घट का ज्ञान अवश्यमेव

न च तद्वदध्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्यानुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः। अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः। तथा च वक्ष्यति—"ज्ञाते द्वैतं विद्यते मा० का० १।१८" इति। ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानात्॥ अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाद् द्वैतानिवृत्तिः।

होता है। घटज्ञान प्रमाण का फल नहीं है किन्तु अज्ञान निवृत्ति ही प्रमाण का फल है। घटावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न चैतन्य में अध्यस्त घट का प्रकाश घटाकरवृत्ति दशा में अवश्यम्भावी है। वह प्रकाश घटाकर वृतिरूप प्रमाण का फल नहीं है। प्रमाण का फल तो घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान की निवृत्ति ही है। वैसे ही आत्मा में कल्पित अन्तःप्रज्ञत्त्वादि के विवेक में प्रवृत्त "नान्तःप्रज्ञम्" इत्यादि प्रतिषेध विज्ञानरूप प्रमाण का व्यापार अनिष्टअन्तःप्रज्ञत्त्वादि को निवृत्त करने के अतिरिक्त तुरीय आत्मा के वोधन में कुछ भी नहीं हो सकता। क्योंकि जिस समय प्रतिषेध विज्ञानरूप प्रमाण द्वारा आत्मा में अन्तःप्रज्ञत्वादि की निवृत्ति हो जाती है। उसी समय आत्मा में प्रमातृत्त्वादि निखिलभेद की निवृत्ति भी हो जाती है। "ऐसा ही ज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रह जाता"। इत्यादि वाक्य से आचार्य गौड़पाद कहेंगे। जिस क्षण में द्वैत प्रपंच की निवृत्ति होती है उससे भिन्न क्षण में वृत्तिरूप ज्ञान नहीं रहता। यदि क्षणान्तर में वृत्तिरूप ज्ञान का रहना माना जाय तो उस वृत्ति की निवृत्ति करने के लिए वृत्यन्तर की आवश्यकता होगी और पुनः उस वृत्ति की निवृत्ति के लिये अन्यवृत्ति की आवश्यकता हो जायगी। इसप्रकार अनवस्था का प्रसंग आ जाने से द्वैत की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूपप्रमाण के प्रवृत्त

तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवाऽऽत्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम्। नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः। बीजभावाविवेकरूपत्वात्। न प्रज्ञमितियुगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेधः। नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः।

कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यत इत्युच्यते। ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपीतरेतरव्यभिचाराद्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पितभेदवत्सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञ-

---

होते ही आत्मा में कल्पित अन्तःप्रज्ञत्वादि सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है।

"अन्तःप्रज्ञ नहीं है" इससे आत्मा में तैजसत्त्वका निषेध किया है "बहिष्प्रज्ञ नहीं है" इससे विश्वभाव का निषेध किया है "उभयतः प्रज्ञ नहीं है" इससे जाग्रत और स्वप्न की मध्य अवस्था का निषेध किया है। "प्रज्ञान घन नहीं है" इससे सुषुप्तावस्था का निषेध किया गया है क्योंकि सुषुप्तावस्था बीजभावयुक्त अविवेकरूप है और तुरीय आत्मा में वह अविवेक नहीं। प्रज्ञ नहीं है, इससे एक साथ सम्पूर्ण विषयोंके ज्ञातृत्वका निषेध किया गया है तथा अप्रज्ञ नहीं है इससे जड़का निषेध किया गया है।

पू०—जब अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्म आत्मा में दीखरहे हैं, तो केवल प्रतिषेधमात्र से रज्जु में दीखने वाले सर्पादि के समान उनका असत्यत्त्व कैसे सिद्ध हो सकता है?

सि०—इस पर कहते हैं कि जैसे रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प, जलधारादि विकल्प भेदों का परस्पर व्यभिचार उनमें असत्यत्त्व है वैसे ही चैतन्यरूपता सर्वत्र समान होने पर भी अत्यन्त प्रज्ञत्वादि

स्वरूपस्य सत्यत्वं सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न। सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" बृ० ४।३।३० इति श्रुतेः।

अत एवादृष्टम्। यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः। अत एवाचिन्त्यम्। अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः। एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम्।

विकल्पों का परस्पर व्यभिचार होने के कारण असत्यत्त्व है, किन्तु रज्जु के सामान्य धर्म इदन्ता के समान चैतन्यरूपता का कहीं भी व्यभिचार न होने के कारण सत्यत्व है।

पू०—यदि कहो कि सुषुप्त पुरुष में चेतनता का व्यभिचार हो जाता है, तो यह ठीक नहीं ? क्योंकि सुषुप्ति का भी अनुभव तो होता ही है और "विज्ञाता की दृष्टि का लोप नहीं होता है" यह श्रुति भी ज्ञातृता के अभाव का निषेध करती है। अतः अनुभव एवं श्रुति प्रमाण से सुषुप्त में भी चिद्रूपता रहती ही है। अतएव यह आत्मा अदृश्य है, जब कि अदृश्य है, इसलिए अव्यवहार्य है। तथा कर्मेन्द्रिय ग्रहण योग्य नहीं है। इस प्रकार अदृष्ट और अग्राह्य के व्याख्यान भेद कर देने पर पुनरुक्ति का भी वारण हो जाता है। यह आत्मा अलक्षण (लिङ्गरहित) है। अतः लिङ्गाभाव होने के कारण ही यह अनुमान का विषय नहीं है। अननुमेय होने से यह अचिन्त्य है। अतएव शब्द का अविषय होने से शब्दाव्यपदेश्य है। इतने पर भी उसके न होने की आशंका नहीं कर सकते, क्योंकि यह एकात्मप्रत्ययसार है यानी जाग्रदादि तीनों स्थानों में आत्मा एक ही है ऐसा अव्यभिचारी प्रतीत होता है। इस अव्यभिचरित प्रतीति से आत्मसत्ता का अनुसरण करना चाहिये। अथवा (आत्मा है) इस प्रकार इसकी उपासना करे। इस श्रुति के आधार पर जिस तुरीय

अथ चैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम् । "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० १।४।७) इति श्रुतेः ।

अन्तःप्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मा (र्मः) प्रतिषेधः कृतः । प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते । अत एव शान्तमविक्रियं शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितं चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते । प्रतीयमानपादत्रयवैलक्षण्यात् । स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्प भूच्छिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्माऽदृष्टो द्रष्टा (बृ० ३।७।२३) "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"

आत्मा को जानने में पूर्वोक्त आत्म प्रतीत ही एक मात्र प्रमाण है। वह तुरीय एकात्मप्रत्ययसार कहा गया है।

यहाँ तक अन्तःप्रज्ञत्वादि का स्थानी यानी जाग्रदादि अवस्था के अभिमानी, विश्वादि के अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्मों का निषेध किया गया है। अब "प्रपञ्चोपशमम्" इत्यादि वाक्य से जाग्रदादि अवस्थाओं के धर्मों का निषेध किया जाता है। अर्थात् पहले स्थानी एवं अब स्थान के धर्मों का निषेध किया जाता है। अतएव वह शान्त (निर्विकार) एवं द्वैतरूप विकल्प से रहित होने के कारण कल्याणस्वरूप है। इसे पूर्व तीन की अपेक्षा चतुर्थ (तुरीय) मानते हैं। पूर्व के प्रतीत होने वाले तीन पादों से यह विलक्षण है, यही आत्मा है और यही जानने योग्य है। अतः जैसे रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प, भूच्छिद्र, दण्डादि से भिन्न पारमार्थिक वस्तु रज्जु है। जिसे "इयं रज्जुः" इस वाक्य से बोध कराया जाता है। ठीक वैसे ही अवस्थात्रय से विलक्षण 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य का अर्थ स्वरूप आत्मा कहा गया है। "जो देखा नहीं जाता किन्तु सबका देखने वाला है" द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है। अतः अपने में कल्पित जाग्रदादि अवस्थाओं से विलक्षण

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥१०॥

[सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में तुरीय आत्मा ईशान अर्थात् समर्थ, वह (स्वरूप से व्यभिचरित न होने के कारण) निर्विकार है, रज्जुसर्पवत् दृश्यवर्ग के मिथ्या होने से) सभी भाव-पदार्थों में अद्वैत रूप है, दिव्य, चतुर्थ और व्यापक माना गया है ॥१०॥]

(बृ० ४।३।२३) इत्यादिभिरुक्तो यः स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या ज्ञाते द्वैताभावः ॥ ७ ॥

प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा । ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति । दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभवतीत्यर्थः । तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्तेः । अव्ययो-

---

होने के कारण उसी में ज्ञातत्त्व है ऐसा भूतपूर्व गति से कहा गया है । क्योंकि उसके ज्ञान होने पर सम्पूर्ण द्वैत का अभाव हो जाता है । अर्थात् द्वैत प्रपंच का कारण अज्ञान अद्वितीय ब्रह्मात्मबोध निवृत्त हो जाता है ॥७॥

इस अर्थ में आगे के श्लोक कहे जाते हैं ।

तुरीय आत्मा का प्रभाव

प्राज्ञ तैजस और विश्वरूप सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति में तुरीय आत्मा ईशान है । अर्थात् दुःख निवृत्ति के प्रति इसमें सामर्थ्य है इस श्लोक में ईशान पद की व्याख्या के लिये प्रभु कहा गया क्योंकि उस तुरीय आत्मा का विज्ञान हो जाने पर दुःखों की निवृत्ति हो जाती है ।

जो विकार को प्राप्त न हो अर्थात् जो अपने स्वरूप से कभी

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥११॥

[पूर्वोक्त विश्व और तैजस ये दोनों ही (फलावस्था रूप) कार्य से तथा (बीजावस्थारूप) कारण से बँधे हुए माने जाते हैं। किन्तु प्राज्ञ केवल (बीजावस्थारूप) कारण से बँधा माना जाता है, पर तुरीय में तो ये दोनों ही नहीं हैं ॥११॥]

न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत्। एतत्कुतः। यस्मादद्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात् स एष देवो द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः ॥१०॥

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्यावधारणार्थम्। कार्यं क्रियत इति फलभावः। कारणं करोतीति बीजभावः। तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्व-

---

गिरता नहीं उसे अव्यय कहते हैं। क्योंकि वह अद्वितीय है, उसमें सम्पूर्ण पदार्थ रज्जु में कल्पित सर्प के समान मिथ्या है। सभी भाववस्तु में सर्प में अधिष्ठान रज्जु के समान वह अद्वितीय आत्मा अनुगत है। प्रकाशक होने से वह यह तुरीय आत्मा देव है। कल्पित विश्वादि की अपेक्षा चतुर्थ संख्या वाला होने के कारण उसे तुरीय कहा गया है और व्यापक होने से यह विभु माना गया है ॥१०॥

विश्वादि से तुरीय का भेद

तुरीय आत्मा के यथार्थ स्वरूप निश्चय के लिये विश्वादि में समान तथा विशेषभाव बतलाया जाता है। जो किया जाय वह कार्य कहा जाता है, अर्थात् फलभाव को कार्य कहते हैं और जो करता हो उसे कारण कहते हैं। अर्थात् बीज भाव को कारण कहा गया है। पहले बतलाये गये विश्व और तैजसतत्त्व के अज्ञान रूप बीज और

नाऽऽत्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥१२॥

(प्राज्ञ से तुरीय इसलिये भी भिन्न है क्योंकि) प्राज्ञ न अपने को और न दूसरे को, न सत्य को तथा न असत्य को ही जानता है। किन्तु तुरीय आत्मा तो सदा सर्वदा सबका प्रकाशक है ॥१२॥

तैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते। प्राज्ञस्तु बीजाभावेनैव बद्धः। तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्। ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न संभवत इत्यर्थः ॥११॥

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धो न सिध्यत इति। यस्मादात्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किंचन संवेत्ति यथा विश्वतैजसौ ततश्चासौ

तज्जन्यभ्रान्तिरूप फल से बँधे अर्थात् अच्छी प्रकार से पकड़ें माने जाते हैं किन्तु प्राज्ञ केवल तत्त्व के अज्ञान से बँधा हुआ है। तत्त्व का बोध न होना रूप बीज ही उसके प्राज्ञापन में निमित्त कारण माना गया है इससे भिन्न तुरीय में वे बीजभाव तत्त्व का अज्ञान और फलभाव अन्यथा ग्रहणरूप भ्रांन्तिज्ञान, वे दोनों ही सिद्ध नहीं होते। क्योंकि इन दोनों का होना तुरीय आत्मा में सर्वथा असम्भव है ॥११॥

फिर भी आपने प्राज्ञ को कारण से बँधा हुआ कैसे कह दिया और तुरीय में तत्त्व का अज्ञान का विपरीत तथा भ्रान्तिरूप विपरीत ज्ञान बन्धन क्योंकर सिद्ध नहीं होते, इस पर आगे का श्लोक कहते हैं। क्योंकि आत्मा से विलक्षण अज्ञानरूप बीज से उत्पन्न बाह्य द्वैतवस्तु को प्राज्ञात्मा कुछ भी नहीं जानता जैसे कि विश्व तैजस उक्त द्वैत को जानते रहे हैं। अतएव वह प्राज्ञतत्त्व के अज्ञान और उसी अज्ञानजन्य भ्रान्तिज्ञान के बीजभूत तम से बँधा हुआ माना

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा चतुर्ये न विद्यते ॥१३॥

प्राज्ञ और तुरीय दोनों को द्वैत का बोध न होना समान ही है, फिर भी प्राज्ञ बीजस्वरूपा अज्ञान निद्रा से युक्त है और तुरीय में वह बीज रूप निद्रा नहीं है ॥१३॥

तत्त्वाग्रहणेन तमसाऽन्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति। यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजम्। तत्र तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो न हि सवितरि सदाप्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रकाशनं वा संभवति। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० ४।३।२३) इति श्रुतेः। अथवा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा। "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतेः ।१२।

जाता है। इससे भिन्न उन सबका द्रष्टा तुरीय आत्मा अपने से भिन्न वस्तु के अभाव होने से सदा सर्वदा ही सर्वरूप तथा सर्वद्रष्टा है, जो वह सर्वदृक् कहा गया है। इसीलिये उसमें तत्त्व का अज्ञान रूप बीज भाव नहीं हैं इसीलिये तत्त्वाज्ञान से उत्पन्न भ्रान्ति का भी सर्वरूप और सबका साक्षी भी हो उसी को सर्वदृक् कहते हैं। अतएव अभाव उसमें माना है क्योंकि सदा प्रकाश स्वरूप सूर्य में उसके विरुद्ध अप्रकाशन या विपरीत प्रकाशन सम्भव नहीं। द्रष्टा की दृष्टि का सर्वथा लोप कभी भी नहीं होता, इस श्रुति से भी सिद्ध होता है अथवा जाग्रत और स्वप्न के सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सभी वस्तुओं के साक्षीरूप से तुरीय आत्मा ही प्रकाश कर रहा है। इसीलिये वह सदा सबका साक्षी माना गया है, ऐसे ही "इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रति वाक्य से भी सिद्ध होता है ॥१२॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः। कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताऽऽशङ्का निवर्त्यते। यस्माद् बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा। सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्। सा बीजनिद्रा। तया युतः प्राज्ञः। सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते। अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥१३॥

अनुमान रूप निमित्तान्तर से तुरीय आत्मा में कारण बन्धकत्व की आशंका को दूर करने के लिये आगे का यह श्लोक है। जब द्वैत का अग्रहण प्राज्ञ और तुरीय में समान है तो फिर केवल प्राज्ञ को ही कारण से बँधा हुआ मानना और तुरीय को बीजरूप अज्ञान से बँधा हुआ न मानना यह कैसे कह रहे हो? इस प्रकार तुरीय में प्राप्त हुई कारणबन्धकत्व की आशंका को दूर करते हैं क्योंकि प्राज्ञ बीजरूप निद्रा से युक्त है, यहाँ पर तत्त्व के अज्ञान को निद्रा कहा है। वह अज्ञान ही द्वैत के विशेष विज्ञान उत्पत्ति का बीज है। अतः वह बीज निद्रा शब्द से कहा गय है। उस निद्रा से प्राज्ञ सम्बद्ध है पर सदा साक्षी स्वभाव होने के कारण तुरीय आत्मा में वह तत्त्व का अज्ञानरूप निद्रा नहीं है इसीलिये वह कारण से बँधा हुआ नहीं माना गया है। बस यही इसका आशय है ॥१३॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

[पहले की दो अवस्थावाले विश्व और तैजस स्वप्न तथा निद्रा दोनों से युक्त है, एवं प्राज्ञ आत्मा केवल निद्रा से युक्त है स्वप्न से नहीं। किन्तु तुरीय में न निद्रा ही है और न स्वप्न ही, ऐसा उसे तत्त्ववेत्ता लोग देखते हैं ॥१४॥]

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्। निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति। ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ। अतस्तौ कार्यकारणबद्धवत्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्। नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः। अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः ॥१४॥

स्वप्न और निद्रा से शून्य तुरीय आत्मा

जैसे रज्जु में सर्पज्ञान अन्यथा ग्रहण कहा है, वैसे ही तुरीय आत्मा में अन्यथा ग्रहण का नाम स्वप्न है और तत्त्व का अज्ञानतम नाम से कहा गया है जिसे यहाँ पर निद्रा कहते हैं। ऐसे स्वप्न और निद्रा से युक्त विश्व और तैजस माने गये हैं। अतः वे स्वप्नरूप कार्य और निद्रारूप कारण से बँधे हुए कहे गये हैं, किन्तु प्राज्ञ स्वप्नरहित केवल निद्रा से युक्त है। इसीलिये उसे कारणबद्ध कहा। दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मदर्शी पुरुष तुरीय में दोनों ही बातें नहीं देखते क्योंकि जैसे सूर्य में अँधेरा नहीं रह सकता वैसे ही स्वप्न प्रकाश तुरीय में विरुद्ध होनेसे स्वप्न और निद्रा दोनों ही नहीं रह सकते। इसीलियें तुरीय आत्मा कार्य एवं करण से बँधा हुआ नहीं है ऐसा कहा गया है ॥१४॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

[(रज्जुसर्प की भाँति तत्त्व से) विपरीत ग्रहण होने पर स्वप्न होता है और केवल तत्त्व को न जानने से निद्रा होती है। पर इन दोनों विपर्यय के क्षीण हो जाने पर (साधक) तुरीय पद को प्राप्त करता है ॥१५॥]

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते। स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति। निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या। स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम्। अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः। तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणो निद्रैवकेवला विपर्यासः। अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोरन्यथाग्रहणाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते. तदोभयलक्षणं बन्धरूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥१५॥

तुरीय आत्मा में पुरुष कब निश्चित माना जाता है इसे आगे के श्लोक में कहेंगे। रज्जु में सर्पज्ञान के समान स्वप्न तथा जाग्रत् में तत्त्व के विपरीत ज्ञान से स्वप्न होता है एवं तत्त्व के न जानने से निद्रा होती है। यह निद्रा जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं में समान है। इनमें से स्वप्न और निद्रा में समान होने में विश्व तथा तैजस को एक कोटि में रखा गया है, अर्थात् ये दोनों ही स्वप्न तथा निद्रा से युक्त है इन दोनों अवस्थाओं में विपरीत ज्ञान होने से निद्रा गौण हो गई। इसीलिये उसमें स्वप्नरूप भ्रान्ति ज्ञान रहता है पर तृतीय स्थान सुषुप्ति में तो केवल तत्त्व का अज्ञान रूप निद्रा ही विपरीत ज्ञान है अतः उन कार्य कारण के स्थानों में विपरीत ज्ञान और अज्ञान जो कि कार्यकारण बन्धन रूप विपर्यास हैं वे दोनों ही

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

[जब जीव अनादि माया से सोया हुआ तत्त्वबोध के द्वारा भली प्रकार से जग जाता है तभी उसे जन्म निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है ॥१६॥]

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनाऽन्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान्स्वप्नान्स्थानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्तो यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किंतु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानो यदा तदैवं प्रतिबुध्यते । कथं नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभाववि-

---

परमार्थतत्त्व के ज्ञान से जब क्षीण हो जाते हैं तब साधक तुरीय पद को प्राप्त करते हैं उस समय दोनों ही कार्यकारण बन्धन को न देखता हुआ पुरुष तुरीय में निश्चित होता है ऐसा अभिप्राय है ॥१५॥

तत्त्वबोधकाल का वर्णन

जो यह संसारी जीव है वह वास्तव में परमात्मस्वरूप ही है। तत्त्व के अज्ञानरूप बीज एवं अन्यथा ज्ञानरूप भ्रान्ति जो अनादि-काल सें प्रवृत्त है तथा मायास्वरूप है उसी से यह मेरा पिता है, मेरा पुत्र है यह, यह नाती है, यह घर है, ये पशु हैं, मैं इसका स्वामी हूँ। इनकी प्राप्ति से मैं सुखी और वृद्धि को प्राप्त होता हूँ, इनके अभाव में मैं दुःखी तथा क्षीण हो जाता हूँ, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में स्वप्न देखता हुआ वह सो रहा है। जब वेदान्तार्थ के तत्त्व को जाननेवाले परम दयालु गुरु द्वारा इस प्रकार तू कारणकार्य रूप नहीं हो, किन्तु अवस्थात्रय में प्रतीत होने वाले

कारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमतएवास्वप्नम्। तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा ॥१६॥

न होने पर अद्वैत किस प्रकार माना जा सकता है? इसका उत्तर दिया जाता है। परमार्थ तो यह हैकि इस प्रकार यह शंका सचमुच में हो सकती थी, यदि परमार्थ दृष्टि से प्रपंच होता तो। यह तो रज्जु में कल्पित सर्प के समान होने के कारण परमार्थतः है ही नहीं। यदि प्रपंच होता तो निःसन्देह वह मिट भी जाता। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प वस्तुतः नहीं है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित प्रपंच वास्तव कार्यकारण से विलक्षण हो। ब्रह्मस्वरूप हो इस रीति से जगाया जाता है। तब उसे तत्त्वबोध होता है। उस बोध का प्रकार कैसा है इसे बतलाते हैं। इस आत्मा में बाह्य अथवा आभ्यन्तरजन्मादि भाव विकार नहीं है। अतः वह अजन्मा सम्पूर्ण बाह्य आभ्यन्तरविकारों से शून्य है। जब इसमें जन्मादि के कारण अविद्यारूप अन्धकार के बीजभूत निद्रा ही नहीं है इसीलिये यह अनिद्र कहा गया है, क्योंकि वह तुरीय निद्रारहित है। इसीलिये उसमें स्वप्न भी नहीं है, क्योंकि अन्यथाग्रहणरूप स्वप्न का कारण निद्रा ही होती है। जबकि वह निद्रा एवं स्वप्न से रहित है। इसीलिये उस समय अजन्मा अद्वितीय तुरीय आत्मा का बोध साधक को हो ही जाता है ॥१६॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

(सत्य तो यह है कि) यदि प्रपंच होता, तो वह निःसन्देह निवृत्त हो जाता पर यह द्वैत तो रज्जु सर्पवत् माया मात्र है, परमार्थतः अद्वैत ही है ॥१७॥]

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमिति। उच्यते। सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत। रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते। विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशयः। न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः। नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता। तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वाऽस्तीत्यभिप्रायः ।१७।

अद्वैत ही पारमार्थिक है

यदि प्रपंच की निवृत्ति से ही बोध होता है तो प्रपंच की निवृत्ति में नहीं है। वह तो रज्जु में भ्रान्तिदृष्टि से कल्पितसर्प के समान जब है तो फिर विवेक से मिट जाना भी कहना नहीं के बराबर है। मायावी से फैलायी गयी माया कहाँ थी जो निवृत्त होती। वह तो देखनेवालों के दृष्टिबंधन के हटते ही मिट जाती है। पहले विद्यमान थी पीछे मिट गयी ऐसी बात ऐन्द्रजाल के विषय में नहीं कही जा सकती। बल्कि पहले भी अविद्यमान होती हुई दृष्टिबंध के कारण विद्यमान सी प्रतीत होती थी। जो दृष्टिबंध के हटते ही बाधित हो जाती है। ठीक ऐसे ही प्रपंच नामक द्वैत भी रज्जुसर्पवत् मायामात्र ही है। परमार्थतस्तु मायावी और रज्जु के समान अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व ही है। अतः न कोई प्रपंच बनता है और न मिटता ही है। तीनों काल में अद्वितीय परमात्मा ही पारमार्थिक वस्तु है, यही इसका आशय है।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥१८॥

[(प्रपञ्च की भाँति गुरु शिष्यादि) विकल्प की यदि किसी ने कल्पना की होती, तो वह विकल्प भी निवृत्त हो जाता। पर गुरु शिष्यादि यह वाद केवल उपदेश के लिये है। अतएव तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर सम्पूर्ण द्वैत नहीं रह जाता है ॥१८॥]

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवृ(वृ)त्त इत्युच्यते। विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात्। यथाऽयं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथाऽयं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक्प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तोऽत उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति। उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निवृ॑त्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते ॥१८॥

गुरु-शिष्यादि भेद भी पारमार्थिक नहीं है

शंका—शासक शास्त्र और शिष्य यह विकल्प कैसे निवृत्त हो सकता है? इसका उत्तर आगे के श्लोक से देते हैं।

समाधान—यदि गुरु-शिष्यादि विकल्प की कल्पना किसी ने सचमुच में की होती तो यह विकल्प मिट जाता। जैसे यह प्रपंच इन्द्रजाल रज्जुसर्प के समान मिथ्या है। वैसे ही गुरु-शिष्यादि भेदविकल्प भी मिथ्या है। यह तो आत्मज्ञान से पहले केवल तत्त्व उपदेश के लिये है। उपदेश के फलस्वरूप तत्त्वज्ञान के हो जाने पर अर्थात् परमार्थतत्त्व का बोध हो जाने पर द्वैत की सत्ता नहीं रहती तो फिर गुरु-शिष्यादि वाद भी कैसे रह सकता है। सम्पूर्ण विकल्पों का अत्यन्याभाव उपदेश से पहले, की भाँति उपदेश के बाद भी है। अतः किसी भी भेद में पारमार्थिक की गन्ध तक नहीं।

(उपनिषद्)

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा । मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

[वह यह आत्मा अक्षर के अनुरोध से ओंकार स्वरूप है और वह मात्राओं को आश्रय करके स्थित रहता है। इसीलिये आत्मा के पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं और ओंकार की मात्राएँ ही आत्मा के पाद हैं, अकार, उकार और मकार-ये ही प्रणव की मात्रा है ॥८॥]

अभिधेयप्रधान ओंकारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यःसोऽयमात्माऽध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम् । किं पुनस्तदक्षरमित्याह । ओंकारः । सोऽयमोंकारः पादशः प्रविभज्यमानोऽधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम् । कथमात्मनो ये पादास्त ओंकारस्य मात्राः। कास्ताः। अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

लय चिन्तन प्रक्रिया

अब तक हमने जिस ओंकार स्वरूप चतुष्पाद आत्मा को वाच्यार्थ की प्रधानता से बतलाया है, वह यह आत्मा अध्यक्षर स्वरूप है। (अक्षर का आश्रय लेकर जिसे नाम की प्रधानता से बतलाया जाय वह अध्यक्षर कहा जाता है) अच्छा तो वह अध्यक्षर क्या है ? इस पर कहते हैं। (वह ओंकार ही है।) वही यह ओंकार पाद रूप से विभक्त किये जाने पर अधिमात्र कहा जाता है। मात्रा का आश्रय लेकर जो रहता हो उसे अधिमात्र कहते हैं। कैसे ? क्योंकि आत्मा के जो पाद हैं वे ही ओंकार की मात्राएँ हैं। वे मात्राएँ कौन सी हैं ? अकार उकार तथा मकार ये ही ओंकार की मात्राएँ हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा के पाद और ओंकार की मात्राओं के अभेद होने से कोई विरोध नहीं है ॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

जाग्रत् स्थानवाला वैश्वानर व्याप्ति तथा आदिमत्त्व के कारण (प्रणव की) पहली मात्रा अकार स्वरूप है। इस प्रकार जो साधक जानता है वह समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और(सभी महापुरुषों में) प्रधान हो जाता है ॥ ९ ॥

तत्र विशेषनियमः क्रियते। जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओंकारस्याकारः प्रथमा मात्रा। केन सामान्येनेत्याह। आप्तेराप्तिर्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता। "अकारो वै सर्वा वाक् (ऐ० आ० २ ३।६) इति श्रुतेः। तथा वैश्वानरेण जगत्। "तस्य ह वा तस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" छा० ५।१८।१२ इत्यादिश्रुतेः। अभिधानाभि-

---

अकार और विश्व का अभेद

अब उक्त विषय में विशेष नियम किया जाता है।

जो वैश्वानर जागरितस्थान वाला है वही ओंकार की पहली मात्रा अकार होता है। किस समानता के कारण आपने ऐसा कहा? इस पर कहते हैं। आप्ति यानी व्याप्ति के कारण विश्व और अकार को एक माना गया है, क्योंकि अकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। "निःसन्देह अकार सम्पूर्ण वाणी रूप है" ऐसा श्रुति भी बतला रही है। जैसे आकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है वैसे ही वैश्वानर से सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। क्योंकि "उस इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है" इत्यादि श्रुति वैश्वानर के जगतव्यापकत्त्व को जो बतला रही है। वाचक और वाच्य की एकता को हम पहले

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

[स्वप्नस्थानवाला तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्व इन दोनों कारणों से ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार स्वरूप है। इसप्रकार जो साधक जान लेता है, वह अपनी ज्ञान संतति का उत्कर्ष करता है और सबके प्रति समान होता है। इसके अतिरिक्त इसके वंश में कोई पुरुष ब्रह्मज्ञान से हीन नहीं होता है। १०।]

धेययोरेकत्वं चावोचाम। आदिरस्य विद्यत इत्यादिमद्यथैवाऽऽदिमदकाराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य। तदेकत्वविदः फलमाह—आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं वेद यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः ॥९॥

स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओंकारस्योकारो द्वितीया मात्रा। केन

भी कह आये हैं।

दोनों में आदिमत्त्व भी समान है। जिसका आदि हो उसको आदिमत्त्व कहते हैं। जैसे ओंकार का अकार नामक अक्षर आदिमान् है, वैसे ही आत्मा का वैश्वानरपद भी आदिमान् है। इसी समानता को लेकर वैश्वानर को अकार रूप कहा गया है। उनका अभेद जानने वालों के लिये फल बतलाते हैं। जो पुरुष ऐसा जानता है अर्थात् वैश्वानर और अकार की एकरूपता जानता है वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और वह सभी श्रेष्ठ पुरुषों में प्रथम होता है ॥९॥

उकार और तैजस का अभेद

जो स्वप्नस्थानवाला तैजस है वह ओंकार की द्वितीयमात्रा

सामान्येनेत्याह—उत्कर्षात्। अकाराद्रुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वादुभयत्वाद्वाऽकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्वसामान्यात्। विद्वत्फलमुच्यते—उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंतातम्। विज्ञानसंततिं वर्धयतीत्यर्थः। समानस्तुल्यश्च मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्यो भवति। अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ॥१०॥

उकारस्वरूप है। किस समानता को लेकर द्वितीयमात्रा तैजस है? इस पर कहते हैं। उत्कर्षरूप सामान्य के कारण जैसे अकार से उत्कृष्ट सा उकार है, वैसे ही विश्व से उत्कृष्ट तैजस है। क्योंकि विश्व स्थूल-शरीराभिमानी है और तैजस सूक्ष्माभिमानी है, अथवा दोनों में मध्यवर्तित्वरूप समानता है। जैसे अकार मकार के मध्यवर्ती उकार है वैसे ही विश्व और प्राज्ञ के मध्य में रहने वाला तैजस है। अतः उभय भाक्त्व (मध्यवर्त्तित्व) रूप सामान्य के कारण भी तैजस एवं अकार में अभेद है। इस प्रकार जानने वालों के लिये फल बतलाया जाता है। जो इस प्रकार जानता है वह विज्ञान संतति के उत्कर्ष को बढ़ाता है और सबके प्रति समान हो जाता है। अर्थात् मित्र पक्ष में जैसे वह द्वेष का विषय नहीं होता वैसे ही शत्रु पक्ष वालों में भी द्वेष का विषय नहीं होता। किंबहुना, ऐसे जानने वाले के कुल में कोई भी व्यक्ति ब्रह्मज्ञान से शून्य नहीं होता ॥१०॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

[सुषुप्ति स्थान वाला प्राज्ञ, मान तथा लय इन दोनों कारणों से ओंकार की तीसरी मात्रा मकार स्वरूप है। जो साधक इस प्रकार जान लेता है, वह इस सम्पूर्ण जगत को माप लेता है और सबका विलय स्थान हो जाता है ॥११॥]

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओंकारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमत्र—मितेर्मितिर्मानं मीयेते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः।

मकार और प्राज्ञ का अभेद

सुषुप्ति स्थान वाला जो प्राज्ञ है वह ओंकार की तृतीय मात्रा मकारस्वरूप है। प्राज्ञ को मकार रूप कैसे मानते हो ? इस पर कहते हैं—इन दोनों में यही समानता है, मितिरूप समानता दोनों में है। मिति शब्द का अर्थ मान होता है, जैसे प्रस्थरूप बाट विशेष से जौ तौले जाते हैं, वैसे ही प्रलय और उत्पत्ति के समय प्रवेश एवं निर्गमन के द्वारा प्राज्ञ से विश्व और तैजस नाप लिये जाते हैं,

तथोंकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे। अपीतेर्वा। अपीतिरप्ययस्या एकीभावः। ओंकारोच्चारणेऽन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ। तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे। अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः। विद्वत्फलमाह—मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः। अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः। अत्रावान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम् ॥११॥

अर्थात् विश्व तैजस का प्रवेश सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ में ही होता है और जागरणकाल में दोनों का प्राज्ञ से ही पुनः निर्गमन होता है। इस प्रकार प्राज्ञ विश्व को मापलेता है। उसी प्रकार जैसे ओंकार की समाप्ति में मकार में ही अकार उकार का प्रवेश होता है और पुनः ओंकार के प्रयोग करने पर मानो मकार से ही अकार उकार निकलते हैं। अतः अकार उकार को जैसे मकार मापता है वैसे ही विश्व तैजस को प्राज्ञ मापता है। अथवा अपीतिरूप समानता के कारण भी प्राज्ञ एवं मकार की एकता है। अपीति शब्द का अर्थ प्रलय अर्थात् एकीभाव होता है। क्योंकि जैसे ओंकार उच्चारण करने पर अन्तिम मकार अक्षर में अकार उकार एकीभूत हो जाते हैं। वैसे ही सुषुप्ति के समय विश्व और तैजस प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं। अतः इस अप्ययरूप समानता के कारण भी प्राज्ञ और मकार का अभेद कहा गया है इस प्रकार जानने वाले के लिये फल बतलाया जाता है—वह इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत को निःसन्देह माप लेता है। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति और प्रलय की प्रक्रिया के ज्ञान से सम्पूर्ण जगत का यथार्थ स्वरूप समझ जाता है। वैसे ही सम्पूर्ण जगत का कारण स्वरूप अप्ययप्रलय रूप भी हो जाता है। यह अवान्तर फल प्रधान साधन की प्रशंसा के लिये यहाँ पर कहा गया है ॥११॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥१९॥

[जब विश्वात्मा का अकार मात्रत्व बतलाना अभीष्ट हो, तो उस समय समझना चाहिए कि उन दोनों में प्राथमिकत्व की समानता स्पष्ट है। अत्व विवक्षा पद की व्याख्या—मात्रा सम्प्रतिपत्ति है। विश्व और अकार की समानता में (इनमें) व्याप्तिरूप सामान्य भी स्फुट ही है ॥१९॥

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदाऽऽदित्वसामान्य-मुक्तन्यायेनोत्कटमुद्भूतं दृश्यत इत्यर्थः। अत्वविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति। विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा संप्रति-पद्यत इत्यर्थः। आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते चशब्दात्।१९।

इस विषय में आगे के श्लोक भी हैं।

अकारादि मात्राओं की विश्वादि के साथ एकता

जब विश्व को अत्व अर्थात् अकारमात्रात्व बतलाना अभीष्ट होता है, तब पहले बतलाये गये न्याय से प्राथमिकत्वरूप सामान्य दोनों में स्पष्ट दीखता है। श्लोक में "मात्रा संप्रतिपत्तौ" यह "अत्व विवक्षायाम्" इस पद का व्याख्यान है, अर्थात् जब विश्व की अकारमात्र-स्वरूपता का बोध होता है तब उनकी व्यापकतारूप समानता का भी स्पष्ट ही भान होता है। श्लोक में च शब्द "उत्कटम्" पद की अनुवृत्ति के लिये कहा गया है ॥१९॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥२०॥
मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥२१॥
त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥२२॥

[तैजस को उकार मात्रारूप जानने में उन दोनों का उत्कर्ष स्पष्ट दीखता है और उनका उभयत्व भी स्फुट ही है ॥२०॥ प्राज्ञको मकार-मात्रारूप जानने में उन दोनों में मान और लयरूप समानता स्पष्ट है ॥२१॥ जो पुरुष जाग्रदादि तीनों स्थानों में बतलायी गई तुल्यता और समानता को निश्चित रूप से जानता है। वह महामुनि है तथा समस्त प्राणियों का वन्दनीय व पूजनीय हो जाता है ॥२२॥]

तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः । उभयत्वं च स्फुटमेवेति । पूर्ववत्सर्वम् ॥२०॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः ॥२१॥

यथोक्तस्थानत्रये तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतादिति निश्चितो

तैजस के उत्वविज्ञान में अर्थात् तैजस को उकार रूप बतलाने में दोनों का उत्कर्ष स्पष्ट ही दीखता है। ऐसे ही दोनों में उभयत्व यानी मध्यवर्त्तित्व स्पष्ट ही है। शेष पदों की व्याख्या पूर्वश्लोकोक्त पदों के व्याख्यान की तरह जानना चाहिये ॥२०॥

प्राज्ञ के मकाररूप बतलाने में मान और लयरूप समानता स्पष्ट है। बस इतना ही इसका भावार्थ है शेष पूर्ववत् ॥२१॥

प्रणव उपासना का फल

पूर्वोक्त तीनों स्थानों में बतलाये गये सादृश्य को जो जानता है

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥२३॥

[(पृथक्-पृथक् उपासना किये जाने पर) अकार विश्व को प्राप्त करा देता है, उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त करा देता है। पर अमात्र में कोई गति नहीं है ॥२३॥]

यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति ॥२२॥

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोंकारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तमकारो नयते विश्वं प्रापयति। अकारालम्बनोंकारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः। तथोकारस्तैजसम्। मकारश्चापि पुनः प्राज्ञं चशब्दान्नयत इत्यनुवर्तते। क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओंकारे गतिर्न विद्यते क्वचिदित्यर्थः ॥२३॥

कि यह इसी प्रकार है, ऐसा निश्चय कर लेता है वह ब्रह्मज्ञानी लोक वन्दनीय और पूज्य हो जाता है ॥२२॥

प्रणव की व्यस्त उपासना का फल

पहले बतलाये गये समानताओं से आत्मा के विश्वादि पदों का ओंकार की अकारादि मात्राओं के साथ क्रमशः एकत्व करके पूर्वोक्त ओंकार को जानकर जो साधक उसका ध्यान करता है उसे अकार विश्व को प्राप्त करा देता है, अर्थात् अकार के आश्रित ओंकार है ऐसा जाननेवाला साधक वैश्वानर हो जाता है। वैसे ही उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त करा देता है, अर्थात् उकाराश्रित ओंकार को जानने पर तैजस और मकाराश्रित ओंकार को जानने पर प्राज्ञ हो जाता है। च शब्द से "नयते" इस पद की अनुवृत्ति की जाती है। किन्तु मकार के क्षीण हो जाने पर बीजभाव के नष्ट हो जाने से मात्रा रहित ओंकार में कभी भी गति नहीं होती है, ऐसा पूर्वोक्त ग्रन्थ का तात्पर्य है ॥ २३ ॥

(उपनिषद्)

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥१२॥

[मात्रा रहित ओंकार तुरीय आत्म स्वरूप ही है। वह (मनवाणी के अविषय होनेसे) अव्यवहार्य प्रपञ्च उपशम शिव और अद्वैत स्वरूप है। इसप्रकार ओंकार आत्मस्वरूप ही है। इसे जो इस रूप में जानता है, वह अपने आत्मा में भली प्रकार से प्रवेश कर जाता है ॥१२॥]

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओंकारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः। प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत्त एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओंकारस्त्रिमात्रस्त्रिपादः। आत्मैव संविशत्यात्मना स्वेनैव स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद। परमार्थदर्शिनां ब्रह्मविदां तृतीयं बीजभावं दग्ध्वाऽऽत्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात्। न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारा-

---

अमात्र और तुरीय आत्मा का अभेद

जिसकी मात्रा नहीं हो वह अमात्र कहा जाता है वह अमात्रस्वरूप ओंकार चतुर्थ अर्थात् तुरीय केवल आत्मा ही विज्ञेय है। वाणी को अभिधान और मन को अभिधेय कहते हैं। ऐसे मन-वाणी की शक्ति क्षीण हो जाने से यह तुरीय अव्यवहार्य व्यवहार के योग्य नहीं माना गया है। एवं वह प्रपंच का उपशमरूप कल्याणस्वरूप अद्वितीय है। इस प्रकार पूर्वोक्त विज्ञानयुक्त साधक से प्रयोग किया

स्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति। मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्न-साधकभावानां सन्मार्गगामिनां (णां) संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओंकारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनी भवति। तथा च वक्ष्यति—"आश्रमास्त्रिविधा हीनाः" मा० का० ३।१६ इत्यादि ॥१२॥

गया तीन मात्रा वाला ओंकार तीन पादवाला आत्मा ही है। जो ऐसा अपने पारमार्थिक आत्मा को जानता है वह स्वयं ही अपने तात्त्विक रूप में प्रवेश कर जाता है। परमार्थ तत्त्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता तृतीय बीजभाव अज्ञान को जलाकर शुद्ध आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये उस तत्त्ववेत्ता का पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि तुरीय आत्मा अज्ञानरूप बीजभाव के संस्पर्श से शून्य है। क्या? भला रज्जु और सर्प का विवेक हो जाने पर रज्जु में प्रविष्ट हुआ कल्पित सर्प उस यथार्थदर्शी की भ्रान्ति एवं तज्जन्यसंस्कार के कारण पुनः पूर्ववत् प्रतीत होगा अर्थात् नहीं। हाँ जो मन्द एवं मध्यमबुद्धि वाले सन्मार्गमीगा संन्यासी साधक हैं जिन्होंने ओंकार की मात्राओं और आत्माके पादों के पूर्वोक्त सिद्ध समानता को जाना है उनके लिये विधिपूर्वक उपासना किया हुआ ओंकार ब्रह्मबोध के प्रति दृढ़ आलम्बन अवश्य हो जाता है इसी बात को "आश्रय तीन प्रकार के हैं" इत्यादि वाक्यों से कारिकाकार स्वयं ही कहेंगे ॥१२॥

(माण्डूक्यमूलमन्त्रभाष्यटीका समाप्त)

पूर्ववत्—

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

(गौडपादीयश्लोकाः)

ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः ।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२४

[(यथोक्त समानता के कारण) एक-एक पाद करके जानो। इसमें किंचित् सन्देह नहीं; कि पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं। इस प्रकार पाद क्रम से ओंकार को जानकर दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी भी प्रयोजन का चिन्तन न करे॥२४॥]

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोंकारं पादशो विद्यादित्यर्थः। एवमोंकारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किञ्चित्प्रयोजनं चिन्तयेत् कृतार्थत्वादित्यर्थः ॥२४॥

इसी विषय में निम्नाङ्कित श्लोक पूर्ववत् हैं।

प्रणव की समस्त व्यस्त उपासना का फल

पहले की बतलायी गयी समानता के कारण आत्मा के पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं और मात्राएँ पाद हैं। अतः ओंकार को पादक्रमशः जाने, इस प्रकार ओंकार का ज्ञान होने पर किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक प्रयोजन की चिन्ता न करें क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से प्रणव-रहस्य को जाननेवाले तत्त्वदर्शी कृत्यकृत्य हो जाते हैं ॥२४॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।

प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

[प्रणव में ही मन को समाहित करे, क्योंकि प्रणव भयशून्य ब्रह्मस्वरूप है। इस प्रकार प्रणव में नित्य समाहित रहने वाले पुरुष को कहीं भी भय नहीं है ॥२५॥]

युञ्जीत समादध्याद्यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो मनः। यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् । न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित्। "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" तै० २९ इति श्रुतेः ॥२५॥

पूर्वोक्त रीति से सम्पूर्ण द्वैत के निषेधक प्रणवज्ञान के द्वारा उत्तम अधिकारी को कृतार्थता प्राप्त हो भी चुकी हो फिर भी मन्द, मध्यम अधिकारी के लिये ध्यान का विधान करना अवश्यक जानकर कहते हैं। पूर्वोक्त रीति से जिस प्रणव का व्याख्यान हो चुका है उसी परमार्थस्वरूप प्रणव में अपने चित्त को समाहित करे, क्योंकि ओंकारभय शून्य ब्रह्मस्वरूप है। इसीलिये उसमें सदा समाहित पुरुष को कहीं कुछभी भय नहीं होता ऐसा ही तत्त्ववेत्ता कहीं भी किसी विषय में डरता नहीं, इस श्रुति से भी सिद्ध होता है ॥२५॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥२६॥

[प्रणव ही अपर ब्रह्म है और प्रणव ही परब्रह्म माना गया है, वह प्रणव कारण रहित अन्तर्बाह्य शून्य कार्य रहित तथा अव्यय है ॥२६॥]

परापरे ब्रह्मणि प्रणवः परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवाऽऽत्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः। स्थानान्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद्विद्यत इत्यनन्तरः। तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्यः। अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः। सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवदित्यर्थः ॥२६॥

प्रणव ही परब्रह्म है और प्रणव ही अपर ब्रह्म भी कहा गया है। वास्तव में मात्रारूप पादों के विलीन हो जाने पर आत्मा ही परब्रह्म है। अतः इसका कोई कारण न होने से यह अपूर्व है। एवं इससे भिन्न जातीय के न होने से यह अनन्तर है तथा इससे बाह्य भी कोई अन्य नहीं है। इसीलिये यह अबाह्य है और इसका कोई अपर अर्थात कार्य नहीं है। अतः यह अनपर भी है। अभिप्राय यह है यह आत्मा बाहर भीतर सभी ओर से जन्मरहित है एवं सैन्धवघन के समान प्रज्ञानघन है। जिस प्रकार नमक की डली में सभी ओर से नमक ही नमक है वैसे ही यह आत्मा सभी ओरसे प्रज्ञानघन ही है ॥२६॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥
प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥

[सबके उत्पत्ति स्थिति और लय स्थान प्रणव ही है । इस प्रणव को जानने के बाद साधक प्रणव को ही प्राप्त कर लेता है ॥२७॥]

[सबके हृदय में स्थित प्रणव को ही ईश्वर जाने इस प्रकार आकाश तुल्य सर्वव्यापक ओंकार को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥२८॥]

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्यैव मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवदुत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः । एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः ॥२७॥

सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोंकारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान्

सम्पूर्ण प्रपंच का आदि मध्य और अन्त, यानी सृष्टि, पालन और संहार ओंकार ही है । जैसे मायामय हाथी, रज्जुसर्प, मृगतृष्णा और स्वप्न आदि कल्पितजगत् का कारण उनका अधिष्ठान है, वैसे ही उत्पन्न होनेवाले आकाशादि प्रपंच का कारण मायावी आदि हैं । वैसे ही मायावी आदि स्थानीय उस प्रणवरूप आत्मा को जानकर तत्त्वदर्शी विद्वान् उसीक्षण आत्मरूपता को प्राप्त कर लेता है । यही इसका अभिप्राय है ॥२७॥

सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय के स्मरणज्ञान के आश्रय हृदय में स्थित ईश्वर प्रणव को ही समझे । बुद्धिमान् साधक आकाश के समान सर्वव्यापक ओंकार को संसारधर्म से रहित आत्मस्वरूप समझकर

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

[जिसने मात्रा रहित तथा अनन्त मात्रा वाले, निखिल द्वैत के उपशम स्वरूप मंगलमय ओंकार को जान लिया है वही (परमार्थ-तत्त्व का मन्ता होने से) मुनि है। (पर शास्त्रज्ञ होते हुए भी) अन्य पुरुष मुनि नहीं है ॥२९॥]

मत्वा न शोचति। शोकनिमित्तानुपपत्तेः। "तरति शोकमात्मवित्" छा० ७।१।३ इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२८॥

अमात्रस्तुरीय ओंकारो मीयतेऽनयेति मात्रापरिच्छित्तिः साऽनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः। नैतावत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः। सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः। ओंकारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः। नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥२९॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राज-
काचार्यस्य शंकरभगवतः कृतावागमशास्त्रविवरणे गौड-
पादीयकारिकासहितमाण्डूक्योपनिषद्भाष्ये
प्रथममागमप्रकरणम् ॥ १ ॥

ॐ तत्सत्।

शोकयुक्त नहीं होता। ऐसे ही "आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है" इत्यादि श्रुतियों से ही सिद्ध होता है ॥२८॥

मुनि का लक्षण

पूर्वोक्तरीति से मात्रा रहित ओंकार और तुरीय को एकरूप से जिसने जान लिया है वही परमार्थतत्त्व का मनन करने वाला होने के कारण मुनि है। तत्त्व ज्ञान के अभाव में शास्त्रज्ञ होता हुआ भी दूसरा पुरुष मुनि नहीं कहला सकता। यहाँ पर जिससे मापा जाय उसे मात्रा यानी परिच्छित्ति कहते हैं और वह मात्रा जिसकी अनन्त हो वह अन-

अथ गौडपादीयकारिकायां(सु)वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम्

हरिः ॐ

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥१॥

[(स्वप्न में प्रतीत होने वाले) सभी पदार्थ शरीर के भीतर ही स्थित रहते हैं, वहाँ के संकुचित स्थान के कारण मनीषियों ने स्वप्न में दीखने वाले सभी पदार्थों का मिथ्यात्व बतलाया है ।.१॥]

ॐ। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्। एकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिभ्यः। (छा० ६.२.१) आगममात्रं तत्। तत्रोपपत्त्याऽपि द्वैतस्य

न्तमात्रा वाला कहा गया है, क्योंकि इसके माप की सीमा का निश्चय नहीं किया जा सकता। वैसे ही सम्पूर्ण द्वैत अनर्थ के शान्त हो जाने से ही यह ओंकार मंगलमय शिवस्वरूप है। इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से बतलाये गये ओंकार को जाननेवाला साधक मुनि कहलाता है।२९।

इस प्रकार आगमप्रकरण शांकरभाष्य की विद्यानन्दी
मिताक्षरा समाप्त हुई ॥१॥

द्वितीय वैतथ्य प्रकरण प्रारम्भ

स्वप्न दृश्य पदार्थों का मिथ्यात्त्व

"एकमेवाद्वितीयम्" (सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य एक अद्वैत सत् ही था) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार पहले आगमप्रकरण में यह कहा जा चुका है कि अद्वैततत्त्व को जानलेने पर अद्वैत नहीं रह जाता। पर वह तो केवल आगमवचन मात्र ही

वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—वैतथ्यमित्यादिना। वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वमित्यर्थः। कस्य। सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलभ्यमानानाम्। आहुः कथयन्ति। मनीषिणः प्रमाणकुशलाः। वैतथ्ये हेतुमाह—अन्तःस्थानात्। अन्तः शरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम्। तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते पर्वतहस्त्यादयो न बहिः शरीरात्। तस्मात्ते वितथा भवितुमर्हन्ति। नन्वपवरकाद्यन्तरुपलभ्यमानैर्घटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—संवृतत्वेन हेतुनेति। अन्तःसंवृतस्थानादित्यर्थः। न ह्यन्तःसंवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्त्यादीनां संभवोऽस्ति। न हि देहे पर्वतोऽस्ति ॥ १ ॥

था। अब युक्तियों से भी द्वैत में मिथ्यात्व निश्चय कराया जा सकता है। इसीलिये यह वैतथ्यमित्यादि ग्रन्थ से द्वितीयप्रकरण प्रारंभ किया जा रहा है। वितथ के भाव को वैतथ्य कहते हैं, अर्थात् असत्यत्त्वमिथ्यात्त्व इसका भावार्थ होता है। "किसका मिथ्यात्त्व है" ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं कि स्वप्न में बाह्य और आन्तरिक सम्पूर्ण पदार्थों में प्रमाणकुशल तत्त्वदर्शियों ने मिथ्यात्त्व देखा है। इसलिये उसमें मिथ्यात्त्व निःसन्दिग्धरूप से वे बतलाते हैं। वे उनके मिथ्यात्त्व होने में "अन्तःस्थानात्" (शरीर के भीतर में स्थित होने से) इत्यादि हेतु भी दिया करते हैं, अर्थात् जिनका शरीर के मध्य में स्थान हो उन्हें अन्तःस्थान कहते हैं। क्योंकि स्वप्नस्थ पर्वत-हस्ति आदि पदार्थों की उपलब्धि शरीर से बाहर तो होती नहीं। इसीलिये शरीर के भीतर उपलब्धि होने के कारण वे पदार्थ मिथ्या होने चाहिये। यदि कहो कि "अन्तःस्थानत्व" यह हेतु व्यभिचारी है क्योंकि गृह आदि के भीतर दीखनेवाले घट आदि उक्त हेतु अनैकान्तिक देखे गये हैं। गृह के मध्य स्थित होते हुए भी जैसे घटादि मिथ्या नहीं है, वैसे ही शरीर मध्यवर्ती होने पर भी स्वप्न के पदार्थ

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥२॥

[काल की अदीर्घता के कारण स्वप्न द्रष्टा देह से बाहर जाकर उन देशों को नहीं देखता है। क्योंकि जागने पर सभी व्यक्ति उस देश में विद्यमान नहीं रहते, जहाँ वह स्वप्न में अपने को देखता था। (इससे देह से बाहर जाकर स्वप्न में देखना सिद्ध नहीं होता ॥२॥]

स्वप्नदृश्यानां भावानामन्तःसंवृतस्थानमित्यंतदसिद्धम। यस्मात् प्राच्येषु सुप्त उदक्षु स्वप्नान्पश्यन्निवदृश्येत। इत्येतदाशङ्क्याऽऽह। न देहाद् बहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति। यस्मात्सुप्तमात्र एव देह-देशाद्योजनशतान्तरिते माससमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते। न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य दीर्घः कालोऽस्ति। अतोऽदीर्घत्वाच्च

मिथ्या नहीं कहे जा सकते। ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि न केवल यह शरीर मध्यवर्ती होने के कारण उन्हें मिथ्या कह रहे हैं, किन्तु संकुचित स्थान होने के कारण से भी वे मिथ्या हैं। इसी को भीतर संकुचित स्थान आदि शब्द से मिथ्यात्व में हेतु बतलाया गया है। क्योंकि संकुचित देह के भीतर रहनेवाली, संकुचित नाड़ियों में पर्वत हस्ती आदि का रहना संभव नहीं है अर्थात् देह के मध्यवर्ती नाड़ि योंमें पर्वत नहीं रह सकता ॥ १ ॥

"स्वप्न में दीखने वाले संकुचित स्थानवर्ती पदार्थ हैं" ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वदिशा में सोया हुआ पुरुष उत्तरदिशा में स्वप्न देखता हुआ सा देखा जाता है। इससे यही सिद्ध होता कि स्वप्नद्रष्टा शरीर के बाह्यप्रदेश में जाकर उन वस्तुओं को देखता होगा। ऐसी शंका होने पर आगे की कारिका कहते हैं—

कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति। किञ्च प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः स्वप्नदृक्स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते। यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छेद्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव प्रतिबुध्येत न चैतदस्ति। रात्रौ सुप्तोऽहनीव भावान्पश्यति बहुभिः संगतो यैश्च संगतो भवति तैर्गृह्येत। न च गृह्यते गृहीतश्चेत्त्वामद्य तत्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः। न चैतदस्ति तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥२॥

देह से बाहर देशान्तर में जाकर स्वप्न को नहीं देखता, क्योंकि एक मास में प्राप्त होने योग्य सौयोजन दूरी वाले देश में सोने के तत्क्षण बाद ही स्वप्नदृश्य वस्तुओं को देखता हुआ सा देखा जाता है। उस देश में पहुँचने और तू वहाँ से लौटने के लिये जितना दीर्घकाल अपेक्षित है वह व्यावहारिक काल भी वहाँ दीखता नहीं। अतः काल की अदीर्घता के कारण स्वप्नद्रष्टा देशान्तर में नहीं जाता है ऐसा मानना ही उचित प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, निद्रा से जगे हुए सभी स्वप्नद्रष्टा स्वप्न दर्शनदेश में अपने को नहीं देखते अर्थात् जिस देश में स्वप्न देख रहा था जगने पर वह देश उसे नहीं दिखाई पड़ता। यदि स्वप्न में देशान्तर में स्वप्नद्रष्टा गया होता तो जिस देश में उसने स्वप्न देखा था उसी देश में जगने के बाद भी अपने को देखना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं होता रात्रि में सोया हुआ व्यक्ति मानो दिन में स्वप्न देखता है और अकेला सोया हुआ बहुतों से मिलता है। जो स्वप्न में मिले थे जागने पर उनके द्वारा ज्ञान होना चाहिये था कि रात्रि में मेरी आपसे भेंट हुई थी। किन्तु ऐसा ज्ञान नहीं कराया जाता है। यदि स्वप्न में पदार्थों कासचमुच में दर्शन हुआ होता तो "हमने तुझे आज वहाँ देखा था" ऐसा कहना चाहिये था, पर ऐसा कोई कहता नहीं। अतः स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा देशान्तर में जाकर स्वप्न को नहीं देखता, ऐसा युक्ति युक्त प्रतीत होता है ॥२॥

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥३॥

[स्वप्न में दीखने वाले रथादि का अभाव तर्क पूर्वक श्रुतियों में सुना जाता है । अतः स्वप्न में युक्ति से सिद्ध मिथ्यात्व को ही श्रुति में स्पष्ट किया गया है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं ॥ ३ ॥]

इतश्च स्वप्नदृश्या भावा वितथाः । यतोऽभावश्चैव रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ "न तत्र रथाः" बृ० ४।३।१० इत्यत्र । तेनान्तःस्थानसंवृतत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः ॥ ३ ॥

इसलिये भी स्वप्न में देखे गये पदार्थ मिथ्या हैं "स्वप्नावस्था में न रथ होता है न रथ के घोड़े न मार्ग ही होते हैं" इत्यादि श्रुतियों में युक्तिपूर्वक स्वप्न में देखे गये रथादि का अभाव ही सुना जाता है । अतः देह के मध्यवर्ती संकुचित स्थान में देखने से "स्वप्न-दृश्य मिथ्या है" इत्यादि हेतुओं से मिथ्यात्व सिद्ध हुआ । उसी का अनुवाद करने वाली स्वप्न में आत्मा के प्रकाशत्व बतलाने वाली उक्त श्रुतियों से ब्रह्मवेत्ता पुरुषों ने पूर्वोक्त मिथ्यात्व को स्पष्ट किया है ॥३॥

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥४॥

[उक्त कारणों से ही जाग्रत् अवस्था में भी पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। दृश्यत्त्व हेतु स्वप्न के समान जाग्रद् के पदार्थों में भी मिथ्यात्त्व सिद्ध कर रहा है। केवल शरीर के भीतर होना और संकुचित स्थान में रहना ही स्वप्न के पदार्थों में वैशिष्ट्य है ॥ ४ ॥]

जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। अन्तः-स्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र ॥ ४ ॥

जगत के दृश्य पदार्थ भी मिथ्या है।

"जाग्रत् अवस्था में दीखने वाले पदार्थ भी मिथ्या हैं"—ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है क्योंकि उसमें भी दृश्यत्त्व हेतुविद्यमान है। यह हेतु है। स्वप्न दृश्यपदार्थ की भाँति यह दृष्टान्त है। जैसे स्वप्न में देखे गये पदार्थों में दृश्यत्व और मिथ्यात्व है, वैसे ही जाग्रत् के पदार्थों में भी दृश्यत्व समान ही है। इस प्रकार हेतु का उपनय भी हो जाता है। अतएव जाग्रत् में भी मिथ्यात्व कहा गया है, ऐसा निगमन भी है। भाव यह है कि जाग्रत् के पदार्थ मिथ्या हैं। दृश्य होने के कारण, स्वप्नदृश्य के समान। जैसे स्वप्न में मिथ्यात्व व्याप्य दृश्यत्व है वही दृश्यत्व जाग्रद में भी है। अतः जाग्रत् में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो गया। अन्तःस्थ होना और संकुचित स्थान में होना केवल स्वप्न की इन्हीं बातों का जाग्रत् के दृश्य पदार्थों में भेद है। दृश्यत्व और मिथ्यात्व तो दोनों की अवस्थाओं में तुल्य है ॥४॥

स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥५॥
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥६॥

[दृश्यत्त्व और मिथ्यात्त्व तो उभयत्र समान है, इस प्रकार मिथ्यात्त्व के प्रयोजक दृश्यत्त्व रूप प्रसिद्ध हेतु पदार्थों में समान होने के कारण मनीषियों ने स्वप्न और जाग्रद् अवस्था को समान ही बतलाया है ॥ ५ ॥]

[जो वस्तु आदि और अन्त में असद् रूप है वह वर्तमान में भी असद् ही मानी जाती है। मृगतृष्णिकादि असद् वस्तुओं के समान होते हुए भी (अनात्मज्ञ पुरुषों द्वारा) वे सद्रूप समझे जाते हैं ॥६॥

प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्नजागरितस्थानयोरेकत्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाणसिद्धस्यैव फलम् ॥ ५ ॥

इतश्च वैतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानामाद्यन्तयोरभावाद्यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके। तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः । आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः ॥ ६ ॥

जैसे स्वप्न के पदार्थों में ग्राह्य ग्राहक भाव है, वैसे ही जाग्रत के पदार्थों में भी ग्राह्य-ग्राहकभाव है। इस ग्राह्य-ग्राहक-भावरूप प्रसिद्ध हेतु के तुल्य होने से भी स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं का विवेकी पुरुषों ने एकत्व बतलाया है। इस प्रकार पूर्वप्रमाण से सिद्ध हुए दृश्यत्व हेतु का मिथ्यात्व फल यहाँ पर बतलाया गया है ॥५॥

इसलिये भी जाग्रत् अवस्था में दीखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि आदि-अन्त में उन वस्तुओं का अभाव है। मृगतृष्णिकादि

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥७॥

[जाग्रत् के पदार्थों में सप्रयोजनता नहीं कर सकते। क्योंकि स्वप्न में उसके विपरीत देखा जाता है, अर्थात् स्वप्न की वस्तु से जाग्रत् में काम नहीं चलता और स्वप्न में जाग्रत् की वस्तु से काम नहीं चलता। अतएव आद्यन्तवत्त्व हेतु से निश्चय ही वे दोनों अवस्था के पदार्थ मिथ्या ही मानेगये हैं ॥७॥

स्वप्नदृश्यवज्जागरितदृश्यानामप्यसत्त्वमिति यदुक्तं तदयुक्तम् । यस्माज्जाग्रद्दृश्या अन्नपानवाहनादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तो गमनागमनादिकार्यं च सप्रयोजना दृष्टाः । न तु स्वप्नदृश्यानां तदस्ति । तस्मात्स्वप्नदृश्यवज्जाग्रद्दृश्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति । तन्न । कस्मात् । यस्मात् सप्रयोजनता दृष्टा याऽन्नपानादीनां सा स्वप्ने विप्रतिपद्यते । जागरिते हि भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनि-

---

वस्तु आदि और अन्त में नहीं है। अतः मध्य में दीखती हुई भी वह नहीं है, ऐसा ही लोक में निश्चित किया गया है। ठीक वैसे ही जाग्रत् के दृश्य पदार्थ भी नहीं हैं, क्योंकि आदि-अन्त में मिथ्या मृगतृष्णिकादि के समान ही इनका भी अभाव देखा गया है। समान होने के कारण वे वास्तव में है तो मिथ्या किन्तु अनात्मज्ञ मूर्ख पुरुषों ने इन्हें सत्य के समान समझ रखा है ॥६॥

पू०—स्वप्नदृश्य के समान जाग्रत् दृश्य में भी मिथ्यात्व है ऐसा जो आपने कहा वह ठीक नहीं है ? क्योंकि जाग्रत् में देखे गये अन्न-पान और वाहन आदि क्षुधा-पिपासा निवृत्त करते हुए तथा गमना-

वर्तिततृट्सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोषितमभुक्तवन्तमात्मानं मन्यते। यथास्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा चातृप्तोत्थितस्तथा। तस्माज्जाग्रद्-दृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा। अतो मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशङ्कनीयमिति। तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समान-मिति मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥७॥

गमनादि कार्य सिद्ध करते हुए देखे गये हैं। अतः प्रयोजन वाले होने के कारण जाग्रत् दृष्टपदार्थ मिथ्या नहीं है। किन्तु स्वप्न की दृश्य वस्तुएँ वैसी बात नहीं हैं। इसलिये स्वप्न दृश्य के समान जाग्रत दृश्यवस्तु में मिथ्यात्व मानना केवल मनोरथ मात्र है?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्यों? इसलिये कि जाग्रत् में जो अन्न-पानादि की सप्रयोजनता देखी गयी है वह स्वप्न में विप-रीत हो जाती है। क्योंकि जाग्रत् में भरपेट खाकर और जल पीकर तृप्त हुआ तृष्णा से निवृत्त होकर सोने के तत्क्षणबाद ही स्वप्न में भूख-प्यास से अत्यन्त दुःखी दिन रात का उपवास किया हुआ और बिना खाया हुआ अपने को मानता है। जैसे स्वप्न में खा पीकर जगा हुआ व्यक्ति अपने को अतृप्त मानता है, ठीक वैसे ही जाग्रत में खाया-पीया व्यक्ति सोने के दूसरे क्षण ही स्वप्न में अपने को अतृप्त अनुभव करता है। अतः स्वप्न में जाग्रत के पदार्थों का बिपरीत भाव देखा गया है। इसलिये हम स्वप्न के समान ही जाग्रत् की वस्तुओं में भी मिथ्यात्व मानते हैं। इस विषय में शंका करने की आवश्यकता नहीं है। अतः आद्यन्तवत् दोनों ही अवस्थाएँ समान हैं। इसलिये वे जाग्रत्-स्वप्न के सभी पदार्थ मिथ्या माने गये हैं ॥७॥

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥८॥

[जैसे स्वर्ग निवासी इन्द्रादि देवों की सहस्र नेत्रत्वादि अपूर्व अवस्था सुनी जाती है। वैसे ही यह स्वप्न भी स्वप्न द्रष्टा का ही अपूर्व धर्म है। यह स्वप्न पदार्थों को जाकर वैसे ही देखता है जैसे कि इस लोक में देशान्तरीय मार्ग के सम्बन्ध में सुशिक्षित पुरुष नियत स्थान में जाकर अभीष्ट लक्ष्य को देखता है ॥८॥]

स्वप्नजाग्रद्भेदयोः समत्वाज्जाग्रद्भेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं तदसत् । कस्मात् । दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात् । कथम् । न हि जाग्रद्दृष्टा एवैते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते । किं तर्हि । अपूर्वं स्वप्ने पश्यति चतुर्दन्तं गजमारूढमष्टभुजमात्मानं मन्यते । अन्यदप्येवंप्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने । तन्नान्येनासता सममिति सदेव । अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः । तस्मात्स्वप्नवज्जागरितस्यासत्त्वमित्ययुक्तम् । तन्न स्वप्ने दृष्टमपूर्वं यन्मन्यसे न तत्स्वतःसिद्धम् । किं तर्हि । अपूर्वंस्थानिधर्मो हि स्था-

---

पूर्वपक्ष—आपने जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों में समानता होने से जाग्रत् के पदार्थों की असत्यता जो कही है वह ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें दृष्टान्तसिद्धि दोष है। कैसे ? तो सुन लो—जाग्रत् के देखे गये पदार्थ ही स्वप्न में देखे जाते हैं, ऐसी बात नहीं है। तो फिर क्या है ? स्वप्न में अपूर्व वस्तुको देखता है। चार दाँत वाले हाथी पर चढ़ा हुआ और आठ भुजाओंवाला अपने को मानता है। ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकार की अपूर्व वस्तुओं को स्वप्न में देखता है, वह किसी अन्य असत्य वस्तु के समान नहीं होती। इसलिये स्वप्नदृष्ट पदार्थ सत्य ही है जो स्वप्नदृश्य रूप दृष्टान्त में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हुआ तो दृष्टान्त असिद्ध माना जायगा। अतः स्वप्न के समान जाग्रत् मिथ्या है ऐसा कहना बिलकुल ठीक नहीं।

निनोद्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानवतो धर्मः। यथा स्वर्गनिवासिनामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि तथा स्वप्नदृशोऽपूर्वोऽयं धर्मः। न स्वतःसिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत्। तानेवंप्रकारानपूर्वान्स्वचित्तविकल्पानयं स्थानी स्वप्नदृक्स्वप्नस्थानं गत्वा प्रेक्षते। यथैवेह लोके सुशिक्षितो देशान्तरमार्गस्तेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा तान्पदार्थान्पश्यति तद्वत्। तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादीनामसत्त्वं तथा स्वप्नदृश्यानामपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमेवेत्यसत्त्व मतो न स्वप्नदृष्टान्तस्यासिद्धत्वम्॥ ८॥

सि०—इस पर कहते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं। स्वप्न में देखी गयी जिन वस्तुओं को तुम अपूर्व मानते हो, वे स्वतः सिद्ध नहीं हैं, तो फिर क्या हैं? वे स्थानी का अपूर्व धर्म हैं। स्वप्न में स्थानी स्वप्न द्रष्टा है उसी स्वप्न स्थान वाले स्वप्नद्रष्टा का वह धर्म है। जैसे स्वर्ग निवासी इन्द्रादि के सहस्रनेत्रादि धर्म हैं, वैसे ही स्वप्नद्रष्टा का ही यह अपूर्व धर्म है। यह स्वप्नद्रष्टा के स्वरूप के समान स्वतःसिद्ध नहीं है। इस प्रकार अपने मन से कल्पित उन अपूर्व धर्मों को स्थायी स्वप्नद्रष्टा स्वप्नस्थान में जाकर देखता है। जैसे इस लोक में भली प्रकार शिक्षित व्यक्ति देशदेशान्तर मार्ग के विषय में उस मार्ग से देशान्तर को प्राप्त कर उन पदार्थों को देखता है, वैसे ही यह स्वप्नद्रष्टा भी देखता है। इसलिए जैसे स्थानी धर्म के रज्जुसर्प मृगतृष्णिकादि मिथ्या हैं वैसे ही अपूर्व स्वप्नदृश्य भी स्थानी के ही धर्म हैं। अतः वे भी मिथ्या हैं। इस प्रकार स्वप्नदृष्टान्त की असिद्धि नहीं कह सकते किन्तु दृष्टान्त में मिथ्यात्व पूर्वोक्त रीति से सिद्ध ही है। भाव यह है कि जैसे जाग्रत् में रस्सी में ही भ्रान्ति से दीखने वाला सर्प, ऊसर भूमि में दीखने वाली मृगतृष्णिका है वे देशान्तरीय नहीं हैं किन्तु अधिष्ठान देश में ही हैं इसलिए वे मिथ्या माने गये हैं। वैसे ही अपूर्व भी स्वप्नदृश्य पदार्थ अधिष्ठानभूत

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥९॥

यद्यपि स्वप्न अवस्था में भी चित्त के अन्तःकल्पित पदार्थ असत् और चित्त से बाहर इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थ सत् जान पड़ता है, तथापि इन दोनों में मिथ्यात्व समानरूप से ही देखा गया है ॥९॥

अपूर्वत्वाशङ्कां निराकृत्य स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्नतुल्यतां जाग्रद्भेदानां प्रपञ्चयन्नाह—स्वप्नवृत्तावपि स्वप्नस्थानेऽप्यन्तश्चेतसा मनोरथसंकल्पितमसत् । संकल्पानन्तरसमकालमेवादर्शनात्तत्रैव स्वप्ने बहिश्चेतसा गृहीतं चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सदित्येव मसत्यमिति निश्चितेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः । उभयोरप्यन्तर्बहिश्चेतःकल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम् ॥ ९ ॥

स्वप्नद्रष्टा के ही धर्म हैं कोई अन्य नहीं। अतः उसमें मिथ्यात्व सिद्ध होने के कारण दृष्टान्तसिद्धि की आशंका सर्वथा असंगत है ॥८॥

स्वप्नपदार्थ में द्वैविध्य

स्वप्न दृष्टान्त में अपूर्वत्व की आशंका दूर हो गयी। इसलिए अब जाग्रद् के पदार्थों में स्वप्नसादृश्य का विस्तार बतलाते हुए कहते हैं।

स्वप्नवृत्ति यानी स्वप्नस्थान में भी चित्त के भीतर मनोरथ मात्र से संकल्पित वस्तु असद् मानी जाती है क्योंकि वह संकल्पक्षण में ही रहती है। दूसरे क्षण में उसका अदर्शन हो जाता है। पर वहीं स्वप्नस्थान में चित्त से बाहर नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा देखे गये घटादि सत् माने जाते हैं। इस प्रकार स्वप्नदृश्य मिथ्या है ऐसा निश्चित हो जाने पर भी उक्तरीति से स्वप्न के पदार्थों में सत् और असत् का विभाग देखा गया है। किन्तु चित्त से कल्पित होने के कारण वे सभी स्वप्न की बाह्यान्तर वस्तुएँ मिथ्या होती हैं ॥९॥

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतो गृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥१०॥
उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥११॥

[स्वप्नवत् जाग्रदवस्था में भी चित्त के भीतर कल्पित पदार्थ असत् और चित्त से बाहर गृहीत पदार्थ सत् समझा गया है। किन्तु इन दोनों में ही मिथ्यात्त्व मानना उचित है ॥१०॥]

[यदि दोनों ही अवस्थाओं में दीखनेवाले पदार्थों में मिथ्यात्त्व है, तो इन पदार्थों को कौन जानता है और उनकी कल्पना करता है ॥११॥]

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम् । अन्तर्बहिश्चेतःकल्पितत्वाविशेषादिति । व्याख्यातमन्यत् ॥१०॥

चोदकआऽऽह—स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यं क

जाग्रत् के पदार्थ में द्वैविध्य

सत् और असत् पदार्थों का मिथ्यात्व कहना उचित नहीं है क्योंकि चित्त के भीतर हो या बाहर; कल्पितत्त्व तो दोनों में समान ही है। अतः जाग्रत् में भी नेत्र के द्वारा देखे गये बाह्य घटादि और मनोरथ मात्र से दीखने वाले मनोराज्यादि में सत्-असत् विभाग होने पर भी मनःकल्पितत्व तुल्य होने के कारण निःसन्देह मिथ्या है। शेष अन्य पदों की व्याख्या हो चुकी ॥१०॥

मिथ्या पदार्थ का कल्पक कौन है

उक्त सिद्धान्त पर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है। यदि स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं के पदार्थों में मिथ्यात्व है तो चित्त के बाहर

कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥१२॥

[स्वयंप्रकाश आत्मदेव माया से अपने को ही स्वयं अनेक भेदों में कल्पना करता है और उन भेदों को वही जानता भी है। बस, यही वेदान्त का निश्चय है ॥१२॥]

एतानन्तर्बहिश्चेतःकल्पितान्बुध्यते । को वै तेषां विकल्पकः । स्मृतिज्ञानयोः क आलम्बनमित्यभिप्रायः । न चेन्निरात्मवाद इष्टः ॥११॥

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन् । स्वयमेव च तान्बुध्यते भेदांस्तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनिश्चयः । नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः । न च निरास्पदे एव ज्ञानस्मृती वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः ॥१२॥

और चित्त के भीतर कल्पित पदार्थों को जानता कौन है? और उनका कल्पक कौन है? अभिप्राय यह है कि स्मृतिरूप स्वप्न और अनुभवरूप जाग्रत्, इन दोनों का आलम्बन कौन है? यदि इन दोनों का आलम्बन कोई नहीं है तो नैरात्म्यवाद अभीष्ट होने लगेगा ॥११॥

स्वप्न का कल्पक और द्रष्टा आत्मा ही है

स्वयंप्रकाश आत्मदेव अपनी माया से अपने-आप में ही आगे बतलाये जाने वाले भेद-भाव की कल्पना वैसे ही करता है जैसे रज्जु में सर्प की। पर रज्जु में कल्पित सर्प का द्रष्टा अधिष्ठान से भिन्न पुरुष होता है। यहाँ तो स्वयं अपने में कल्पित स्वप्नदृश्य का देखनेवाला स्वप्नद्रष्टा ही है। वही इन कल्पित पदार्थों को देखता भी है। इस प्रकार वेदान्त का निश्चय है। इसलिये ज्ञान और स्मृति अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों का आश्रय भिन्न नहीं है। और ऐसा मान लेने पर बौद्धों के समान ज्ञान और स्मरण निरास्पद न

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥१३॥

समर्थ आत्मा अपने चित्त में वासना रूप से रहे हुए अन्य लौकिक पदार्थों को नाना रूप से विकृत कर देता है। ठीक वैसे ही बहिश्चित्त होकर सभी पृथिव्यादि व्यवहारिक और कल्पनाकाल में प्रतीत होने वाले अनियत रज्जु सर्पादि की भी वैसे ही कल्पना कर लेता है ॥१३॥]

संकल्पयन्केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते—विकरोति नाना करोत्यपराल्लौकिकान्भावान्पदार्थाञ्शब्दादीनन्यांश्चान्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्याकृतान्नियतांश्च पृथ्व्यादीननियतांश्च कल्पन (ना)-कालान्बहिश्चित्तः संस्तथाऽन्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणानित्येवं कल्पयति। प्रभुरीश्वर आत्मेत्यर्थः।१३।

होने से हमारे सिद्धान्त में नैरात्म्यवाद की प्रसक्ति नहीं। यही इसका अभिप्राय है ॥१२॥

पदार्थ कल्पना का प्रकार

वह द्रष्टा आत्मा चित्त में वासनारूप से स्थित अव्याकृत लौकिकशब्दादि पदार्थों को तथा पृथिव्यादि नियतपदार्थों को बहिर्मुख होकर नाना रूपों में विकृत करता है। एवं अन्तर्मुख होकर कल्पनाकाल में ही प्रतीत होने वाले मनोरथमात्र स्वरूप पदार्थों की भी कल्पना करता है। इस प्रकार वह समर्थ ईश्वर आत्मा बाह्याभ्यन्तर सभी पदार्थों की कल्पना कर लेता है ॥१३॥

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ॥१४॥

जो आन्तरिक स्वप्न दृश्यादि पदार्थ केवल कल्पना काल में रहते हैं और जो जाग्रद् के बाह्य पदार्थ दो काल वाले हैं, वे सभी कल्पित हैं। बाह्यपदार्थों में द्विकालिकत्वरूप विशेष भी कल्पना के कारण से ही है, अन्य कारण से नहीं ॥१४॥]

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते। यस्माच्चित्त-परिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्तपरिच्छेद्यैर्वैलक्षण्यं बाह्यानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति सा न युक्ताऽऽशङ्का। चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः। नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः। कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः। द्वयकालाश्च भेदकाला अन्योन्यपरिच्छेद्याः। यथाऽऽगोदोहनमास्ते यावदास्ते

सभी बाह्याभ्यन्तर पदार्थ मिथ्या हैं

पूर्वपक्ष—स्वप्न के समान ही चित्त परिकल्पित सभी वस्तुएँ हैं। इस बात को सुनकर पूर्वपक्षी आशंका करता है—क्योंकि केवल चित्त से कल्पित और चित्त से ही जानने योग्य मनोराज्य की अपेक्षा बाह्य पदार्थों में विलक्षणता है। ये बाह्य पदार्थ तो अन्योन्य परिच्छेद्य हैं। क्योंकि "सोऽयं घटः" इत्यादि रूप से बाह्यवस्तु की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। अतः स्वप्न के समान इसे मिथ्या कहना सर्वथा असंगत है।

सिद्धान्त—उक्त शंका ठीक नहीं। क्योंकि जो आन्तरिक पदार्थ केवल चित्त से जानने योग्य हैं वे चित्तकाल माने गये हैं अर्थात जिनका बोध केवल कल्पना काल में ही होता है अन्यकाल में नहीं, इन्हें चित्तकाल कहा गया है। और बाह्य पदार्थ तो दो काल वाले हैं,

तावद् गां दोग्धि यावद् गां दोग्धि तावदास्ते । तावानयमेतावान्स इति परस्परपरिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां भेदानां ते द्वयकालाः । अन्तश्चित्तकाला बाह्याश्च द्वयकालाः कल्पिता एव ते सर्वे । न बाह्यो द्वयकालत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः । अत्रापि हि स्वप्न-दृष्टान्तो भवत्येव ॥१४॥

जब हम उन्हें देखते हैं तब भी, और जब नहीं देखते हैं तब भी। इसीलिए इन्हें अन्योन्यपरिच्छेद्य कहा गया है। जैसे "गोदोहन पर्यन्त बैठता है" अर्थात् जब तक गो दुहता है तब तक बैठता है और जब तक बैठता है तब तक गो दुहता है। उतने समय तक यह रहता है और उतने समय तक वह रहता है इस प्रकार गो दोहन और उसका आसन एक दूसरे के परिच्छेदक हैं। ऐसे ही जाग्रत् के दृश्य पर और अपर दोनों कालों से परिच्छिन्न माने गये हैं। इसी-लिए बाह्य वस्तुओं में परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव है। अतः वे दो काल वाले हैं। इसके विपरीत आभ्यन्तर पदार्थ केवल चित्त काल में ही रहते हैं। फिर भी ये चित्त काल वाले आभ्यन्तर पदार्थ और दो काल वाले बाह्य पदार्थ सभी कल्पित ही तो हैं। बाह्य पदार्थों में द्विकालिकत्वरूप ही तो विशेषता है वह कल्पना के सिवा और कुछ भी नहीं। उनमें द्विकालिकत्व भी तो कल्पनाके कारण से ही है। इस विषय में भी स्वप्नदृष्टान्त दृष्टान्त बन ही जाता है। क्योंकि स्वप्न में भी बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थ होते हैं, कुछ मनोरथ मात्र होते हैं और कुछ बाह्य इन्द्रियों से दिखाई पड़ते हैं। फिर भी कल्पितत्वकी समानता होने से दोनों ही मिथ्या माने गये हैं। वैसे ही जाग्रत् के द्विविध पदार्थों में भी समझना चाहिये ॥१४॥

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥१५॥

[वासनामात्रजन्य जो स्वप्नदृश्यादि आन्तरिक पदार्थ हैं, वे अव्यक्त ही हैं और जो बाह्य है वे चक्षुरादि इन्द्रियों से स्पष्ट प्रतीत होने वाले हैं, फिर भी वे सभी कल्पित ही हैं। उनकी विशेषता तो केवल इन्द्रियों के कारण से है अर्थात् एक इन्द्रियों से दूसरे इन्द्रियों के बिना ही प्रतीत होते हैं ॥१५॥]

यदप्यन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनामात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा वहिश्चक्षुरादीन्द्रियान्तरे विशेषो नासौ भेदानामस्तित्वकृतः स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात् । किं तर्हीन्द्रियान्तरकृत एव । अतः कल्पिता एव जाग्रद्भावा अपि स्वप्नभाववदिति सिद्धम् ॥१५॥

बाह्याभ्यन्तर पदार्थों में भेद का कारण केवल इन्द्रियाँ हैं। मन के वासना मात्र से प्रकट होने वाले पदार्थों का जो अन्तःकरण में अव्यक्तत्व है और बाह्य-चक्षुरादि अन्य इन्द्रियों से उपलब्ध होने के कारण बाह्य वस्तु में जो व्यक्तत्व है, उसका यह भेद पदार्थों के अस्तित्व के कारण से नहीं है। अर्थात् बाह्याभ्यन्तर जाग्रत के पदार्थों के अस्तित्व के कारण से नहीं है। बाह्याभ्यन्तर जाग्रत के पदार्थों में अव्यक्तत्व और व्यक्तत्व भेद पदार्थ सत्ता का भेदक नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्न में भी ऐसा ही देखा गया है। स्वप्न पदार्थ में कल्पितत्व समान रहने पर भी बाह्याभ्यन्तर भाव देखा गया है। तो भला इस भेद का कारण क्या है ? यह भेद तो इन्द्रियों के कारण से ही है अर्थात् एक केवल चित्त से देखा गया दूसरा चक्षुरादि बाह्य-इन्द्रियों से देखा गया; कल्पितत्व तो दोनों में समान ही है अतः यह सिद्ध हो गया कि स्वप्न पदार्थ के समान जाग्रत् के पदार्थ भी कल्पित ही हैं ॥१५॥

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् ।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ॥१६॥

[(शुद्ध आत्मा में वह प्रभु) पहले कर्तृत्वादि विशिष्ट जीव की कल्पना करता है, तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रकार के बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना करता है। जीव जैसा विचारवाला होता है वैसी ही उसकी स्मृति भी होती है ॥१६॥]

बाह्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तनैमित्तिकतया कल्पनायां किं मूलमिति। उच्यते। जीवं हेतुफलात्मकम्। अहंकरोमि ममसुखदुःखे इत्येवंलक्षणम्। अनेवंलक्षण एव शुद्ध आत्मनि रज्ज्वामिव सर्पं कल्पयते पूर्वम्। ततस्तादर्थ्येन क्रियाकारकफलभेदेन प्राणादीन्नानाविधान्भावान्बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव कल्पयते। तत्र कल्पनायां को हेतुरित्युच्यते। योऽसौ स्वयं कल्पितो जीवः सर्वकल्पनायामधिकृतः स यथाविधो यादृशी विद्या विज्ञानमस्येति

पदार्थ कल्पना से पूर्व जीव की कल्पना

पूर्वपक्ष—बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की परस्पर निमित्त और नैमित्तिक रूप से कल्पना होने में कारण क्या है ? अर्थात् बाह्य वस्तु के कारण संस्कार पड़ता है और संस्कार से पुनः आभ्यन्तर पदार्थ की कल्पना होती है। उसी कल्पना से पुनः बाह्यपदार्थों में पारमार्थिकत्व दीखने लग जाता है। ऐसा होने में मूलकारण क्या है ?

सिद्धान्त—इस पर कहते हैं। "मैं कर्त्ता हूँ, मुझे सुख-दुख होता है" इस पर कर्तृत्व रूप हेतु और सुख दुःख रूप फल उभयभाव से परिवेष्टित जीव की कल्पना इससे विपरीत शुद्ध आत्मा में वैसे ही होती है जैसे रस्सी में सर्प की कल्पना होती है। फिर उसके लिए क्रिया-कारक-फलभेद प्राणादि नाना प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर

यथाविद्यस्तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तथास्मृति र्भवति स इति। अतो हेतुकल्पनाविज्ञानात्फलविज्ञानं ततो हेतुफलस्मृतिस्ततस्तद्विज्ञानं तदर्थक्रियाकारकतत्फलभेदविज्ञानानि तेभ्यस्तत्स्मृतिस्तत्स्मृतेश्च पुनस्तद्विज्ञानानीत्येवं बाह्यानाध्यात्मिकांश्चेतरेतरनिमित्तनैमित्तिकभावेनानेकधा कल्पयते ॥१६॥

पदार्थों की कल्पना करते हैं। आपने पूछा कि उस कल्पना में कारण क्या है ? तो इसका उत्तर दे रहे हैं।

सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिकारी वह जीव ही है जो कि स्वयं कल्पित है। वह जैसे चिन्तन वाला और जैसे विज्ञान वाला होता है, वैसे ही उसे स्मृति हुआ करती है। इस प्रकार अन्नभक्षणादि के कारण अन्नभक्षण की कल्पना के विज्ञान से तृप्ति आदि फल का विज्ञान होता है और उस फलविज्ञान से दूसरे दिन तृप्ति के हेतु अन्नभक्षणादि विज्ञान का स्मरण हो आता है। उसी स्मृति से उनका विज्ञान तथा अन्नभक्षणादि के लिए पाकादि कर्म कारक एवं उनकी तृप्ति आदि फल विशेष का ज्ञान होता रहता है। उससे पुनः उन्हीं वस्तुओं का स्मरण होता है और इस स्मरण से उनके कारण विज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह बेचारा जीव बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की परस्पर निमित्त और नैमित्तिक भाव से अनेकविध कल्पना करता रहता है ॥१६॥

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारेविकल्पित ॥
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥१७॥

[जैसे (लोक में अपने रूप से) निश्चित न की गयी रज्जु अंधकार में सर्प, जलधारा तथा दण्डादि भावों से कल्पना की जाती है, वैसे ही आत्मा भी अनेक प्रकार से विकल्पका विषय बन रहा है ॥ १७ ॥]

तत्र जीवकल्पना सर्वकल्पनामूलमित्युक्तं सैव जीवकल्पना किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—यथा लोके स्वेन रूपेणानिश्चिताऽनवधारितैवमेवेति रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वाऽनेकधा विकल्पिता भवति पूर्वस्वरूपानिश्चयनिमित्तम्। यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण निश्चित स्यात्। न सर्पादिपिकल्पोऽभविष्यत्। यथा स्वहस्ताङ्गुल्यादिषु एष दृष्टान्तः। तद्वद्धेतुफलादिसंसारधर्मा-

---

जीव कल्पना का कारण भी अज्ञान ही है।

पूर्वपक्ष—सम्पूर्ण कल्पनाओं का मूल कारण जीव कल्पना है। यही आपने पूर्व कारिका में बतलाया। पर जीव कल्पना का कारण क्या है?

सिद्धान्त—उसका उत्तर दृष्टान्त से देते हैं। जैसे लोक में अपने स्वरूप से "यह रज्जु है" इस प्रकार निश्चित नहीं होने पर वही रज्जु मन्द अन्धकार में सर्प, जलधारा, दण्ड, भूछिद्र आदि अनेक प्रकार से विकल्पित हो जाती है क्योंकि इस कल्पना से पूर्व इसके स्वरूप का निश्चय नहीं हो सका था। यदि पहले से रज्जु का स्वरूप निश्चित हो गया होता तो सर्पादि विकल्प सर्वथा नहीं होते। जैसे अपने हाथ की अंगुली में कभी भी विकल्प नहीं होता। यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। वैसे ही हेतु फल भावादि सांसारिक धर्मरूप अनर्थ

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥१८॥

[यह रज्जु ही है, इस प्रकार रज्जु के निश्चय हो जाने पर जैसे उसमें सर्पादि विकल्प सर्वथा मिट जाता है और केवल रज्जु का निश्चय होता है वैसे ही आत्मा का निश्चय संपूर्ण कर्तृत्वादि विकल्प को समाप्त कर देता है ॥१८॥]

नर्थविलक्षणतथो स्वेन विशुद्धविज्ञप्तिमात्रसत्ताद्वयरूपेणानिश्चितत्वाज्जीवप्राणाद्यनन्तभावभेदैरात्मा विकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ॥१७॥

रज्जुरेवेति निश्चये सर्वविकल्पनिवृत्तौ रज्जुरेवेति चाद्वैतं यथा तथा "नेति नेति (बृ० ४।४।२२) इति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्रजनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्मविनिश्चयः "आत्मैवेदं सर्वम्"

से विलक्षण स्वरूपतः विशुद्ध चैतन्य अद्वितीय सत्तामात्र जो ब्रह्म है, उसका स्वरूप से निश्चय न होने के कारण ही जीव एवं प्राणादि अनन्त भेद वाले पदार्थों की कल्पना होने लग जाती है। इन सभी भेदों से वह आत्मा ही विकल्पित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान तत्त्व का अज्ञान ही अधिष्ठान के नाना रूप विकल्पितत्व होने में एक मात्र कारण देखा गया है। बस यही उपनिषदों का सिद्धान्त है ॥१७॥

ज्ञान की निवृत्ति अधिष्ठान आत्मज्ञान से होती है।

'यह रज्जु ही है' ऐसा निश्चय होने पर जैसे सर्पादि विकल्प की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व अद्वितीय आत्मा ही है' इस प्रकार निश्चय हो जाने पर 'यह नहीं, यह नहीं' इत्यादि

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥१९॥

[(आगे कहे जाने वाले) जो इन प्राणादि अनन्त पदार्थों के रूप से विकल्प के विषय बन रहे हैं, वह यह उस आत्मदेव की माया ही है। जिससे वह स्वयं भी मोहित हुए के समान मोह ग्रस्त हो रहा है ॥१९॥]

(छा० ७।२५।२) "अपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः" (बृ० २।५।१९) "सबाह्याभ्यान्तरो ह्यजः" (मु० २।१।२) "अजरोऽमरोऽमृतोऽभय एक एवाद्वयः" (बृ० ४।४।२५) इति ॥१८॥

यद्यात्मैक एवेति निश्चयः कथं प्राणादिभिरनन्तरैर्भावैरेतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति। उच्यते शृणु मायैषा तस्याऽऽत्मनो देवस्य।

श्रुतियों से सम्पूर्ण संसार भ्रमशून्यत्व के बोधक औपनिषदविज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश से आत्मा का निश्चय हो जाता है। एवं 'यह सब आत्मा ही है', 'वह कार्य कारण से रहित बाह्य आभ्यन्तर भाव से शून्य है' 'बाहर भीतर सभी दृष्टियों से अजन्मा आत्मा ही तो है', 'वह जरारहित, मृत्युरहित अमृत एवं अभयरूप है', 'वह एक अद्वैत ही है' इत्यादि सभी श्रुतिवाक्यों से अधिष्ठानतत्त्व काबोध होताहै। यह बोध ही अधिष्ठान, अज्ञान एवं तज्जन्य निखिल भ्रान्ति का निवर्तक है ॥१८॥

समस्त विकल्पों का कारण माया ही है।

पूर्वपक्ष—'आत्मा एक ही है' यह बात यदि सुनिश्चित है तो भला इन प्राणादि संसाररूप अनेक भावों से विकल्प कैसे हो रहा है ऐसी स्थिति में तो केवल एक अद्वितीय आत्मा का भान होना चाहिये था।

सिद्धान्त पक्ष—इस पर सिद्धान्ती कहता है। उस आत्मदेव की

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ॥२०॥

[हिरण्यगर्भादि प्राण के उपासक मानते हैं कि प्राण ही जगत् का हेतु है। भूतज्ञ चार्वाक आदि कहते हैं कि पृथिव्यादि भूत चतुष्टय ही जगत् का कारण है। गुणज्ञ सांख्यवादी मानते हैं कि सत्त्वादि तीन गुण ही सृष्टि के कारण हैं और तत्त्वविद् शैवों का कहना है कि (आत्मा, अविद्या तथा शिव ऐसे संक्षेपतः) ये तीन तत्त्व ही जगत के प्रवर्तक हैं ॥२०॥]

यथा मायाविना विहिता माया गगनमतिविमलं कुसुमितैः सपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति तथेयमपि देवस्य माया यथाऽयं स्वयमपि मोहित इव मोहितो भवति। मम माया दुरत्यया" गी० ७।१४ इत्युक्तम् ॥१९॥

यह माया ही सम्पूर्ण विकल्पों का एकमात्र कारण है। जैसे मायावी द्वारा की गई माया अत्यन्त स्वच्छ आकाश को पत्र पुष्प से पूर्ण वृक्षों के द्वारा व्याप्त कर देती है, वैसे ही यह भी आत्मदेव की माया ही है, जिससे कि यह स्वयं भी मोहित हुआ सा प्रतीत हो रहा है। ऐसी उस आत्मदेव की माया दूरत्यय है। इसलिए गीता में भी कहा है कि 'मेरी माया का पार पाना अत्यन्त कठिन है। इस वाक्य से माया को ही मोह का हेतु भगवान् ने बतलाया है ॥१९॥

उक्त विषय में विभिन्न मतवाद

'समष्टि प्राण जगत् का बीज है' ऐसा विद्वान् कहते हैं। उसी के कार्यभेद स्थितिपर्यन्त सम्पूर्ण विकल्प हैं। ये सभी वादियों से कल्पना किये गये अनेक अन्य मत-मतान्तर उस आत्मा के स्वरूप का निश्चय न होने के कारण वैसे ही हो रहे हैं जैसे रज्जु का स्वरूप

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः ।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥२१॥
वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥२२॥
सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥२३॥

निश्चय न होने के कारण सर्पादि विकल्प होते रहते हैं। वास्तव में तो उक्त सभी विकल्पों से शून्य आत्मस्वरूप है, उस स्वरूप के अनिश्चय होने से ही अविद्या से परिकल्पित उक्त सभी वाद हैं यह उन उपर्युक्त श्लोकों का पिण्डीभूत अर्थ है।

'प्राण इति प्राणविदः' इत्यादि श्लोकों के प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसलिए उनके व्याख्यान का कोई खास प्रयोजन नहीं। अतः हमने इनके व्याख्यान के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया ॥२०-२८॥

एक आत्मा के विश्वादि पाद ही सम्पूर्ण व्यवहार के हेतु हैं ऐसा पादवेत्ता मानते हैं। वात्स्यायन आदि विषयवेत्ता कहते हैं—शब्दादि विषय ही तात्त्विक वस्तु है। लोक वेत्ता पौराणिकों का कहना है कि भूर्भुवः स्वः ये लोक ही सत्य हैं और देव उपासक मानते हैं कि इन्द्रादि देवता ही कर्म फल प्रदान करके सृष्टि का संचालन कर रहे हैं ॥२१॥

ऋगादि चारों वेद ही पारमार्थिक वस्तु हैं—ऐसा वेद पारायणों में तत्पर वेदज्ञ मानते हैं। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ ही संसार के मूल कारण हैं—ऐसा याज्ञिक कहते हैं। आत्मा केवल भोक्ता है कर्त्ता नहीं—ऐसा भोक्तात्मवादी सांख्य मानते हैं और भोज्यवादी सूपकारादि भोज्य को ही परमार्थ तत्त्व कहते हैं ॥२२॥

आत्मा परमाणु के समान सूक्ष्म है ऐसा सूक्ष्म वेत्ता मानते हैं।

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥२४॥
मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥२५॥
पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥२६॥

स्थूलवादी चार्वाक कहते हैं 'स्थूलदेहोऽहम्' इस प्रतीति से स्थूल ही परमार्थ तत्त्व है। साकार उपासक मूर्तात्मवादी कहते हैं कि परमार्थ वस्तु साकार है और शून्य वादियों का कहना है कि वह परमार्थ वस्तु आकार रहित है ॥२३॥

कालज्ञ ज्योतिषी लोग कहते हैं, काल ही परमार्थ तत्त्व है। स्वरोदय शास्त्री का कहना है कि केवल दिशाएँ परमार्थ है। वाद के रहस्य वेत्ता कहते हैं कि धातुवाद, मन्त्रवाद आदि परमार्थ तत्त्व हैं और भुवनकोश के रहस्य वेत्ता का कहना है कि चौदह भुवन ही सार तत्त्व है ॥२४॥

मनोवेत्ता मानते हैं कि मन ही आत्मा है और बौद्धों का कहना है कि बुद्धि ही आत्मा है। चित्त ही परमार्थ तत्त्व है ऐसा चित्तज्ञ कहते हैं, तथा धर्माधर्म के रहस्यवेत्ता मीमांसक धर्माधर्म को ही सत्य मानते हैं ॥२५॥

(पुरुष प्रधान महतत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा एकादश इन्द्रियाँ और मन तथा पंचविषय इन) पच्चीसतत्त्वों को सांख्यवादी मानते हैं और पातञ्जलमतावलम्बी ईश्वर को भी छब्बीसवें तत्त्व रूप में मानते हैं। पाशुपतमतावलम्बी उक्त पच्चीसतत्त्वों के अतिरिक्त राग, अविद्या, नियति, काल, कला और माया इन छः तत्त्वों को भी मानते हैं। एवं अन्यवादी परमार्थ वस्तु को अनन्त भेद वाला मानते हैं ॥२६॥

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ॥२७॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥२८॥

लोकानुरंजन को लौकिक पुरुष तात्त्विक बतलाते हैं और दक्षादि आश्रमवादी आश्रम को ही प्रधान मानते हैं। लिङ्गवादी वैयाकरण स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्गों को ही परमार्थ बतलाते हैं तथा दूसरे लोग परात्परब्रह्म को तत्त्व मानते हैं ॥२७॥

[सृष्टि ही सत्य है, ऐसे सृष्टिवादी कहते हैं। लयवादी लय को ही परमार्थ मानते हैं और स्थितिवेत्ता स्थिति को सत्य मानते हैं। इस प्रकार उक्तानुक्त वाद आत्मतत्त्व में कल्पित हैं ॥२८॥]

प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः। अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा रज्ज्वामिव सर्पादयः। तच्छून्य आत्मन्यात्मस्वरूपानिश्चयहेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डीकृतोऽर्थः। प्राणादिश्लोकानां प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने फल्गुप्रयोजनत्वाद्यत्नो न कृतः ॥२०॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥२७॥२८॥

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ॥२९॥

[(आचार्य) प्राणादि में जिस किसी भाव को परमार्थ तत्त्व-रूप से दिखला देता है, वह साधक उसी को आत्मभूत हुआ देखता है। तथा इस प्रकार देखने वाले उस व्यक्ति की भी वह पदार्थ तद्-रूप होकर रक्षा करता है, फिर तो उसमें उत्पन्न अभिनिवेश उसके आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥२९॥]

किं बहुना प्राणादीनामन्यतमसमुक्तमनुक्तं वान्यं भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याऽऽचार्योऽन्यो वाऽऽप्त इदमेव तत्त्वमिति स तं भावमात्मभूतं पश्यत्ययमहमिति वा ममेति वा तं च द्रष्टारं स भावोऽवति यो दर्शितो भावोऽसौ भूत्वा रक्षति। स्वेनाऽऽत्मना सर्वतो निरुणद्धि। तस्मिन्ग्रहस्तद्ग्रहस्तदभिनिवेशः। इदमेव तत्त्वमिति स तं ग्रहीतारमुपैति। तस्याऽऽत्मभावं निगच्छतीत्यर्थः ॥२९॥

विशेष क्या कहें। जिसका गुरु या अन्य कोई आप्त पुरुष उक्त प्राणादि में से किसी एक को अथवा अनुक्त किसी पदार्थ को भी 'यही परमार्थ तत्त्व है' इस प्रकार दिखला देवे तो वह उसी में तन्मय हो देखता है। 'यही मैं हूँ अथवा यही मेरा स्वरूप है' और गुरुपदिष्ट भाव पदार्थ ही तद्रूप होकर उस द्रष्टा साधक की रक्षा करता है। ज्ञानी अपने स्वरूप से, सर्वथा उसे निरुद्ध कर डालता है। उसकी श्रद्धा एक मात्र उसी में हो जाती है। वह तो एक मात्र उसी में अभिनिवेश कर लेता है कि बस यही पारमार्थिकतत्त्व है। अन्त में वह भाव पदार्थ उस साधक को प्राप्त भी हो जाता है। यावज्जीवन तन्मयता से पारमार्थिक रूप में उस तत्त्व का चिन्तन जो साधक करता है वह अन्त में उसी के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥२९॥

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ॥३०॥

[सर्वाधिष्ठान होने के कारण यह आत्मा इन प्राणादि अपृथक् भावों से पृथक् ही है ऐसा लक्षित हो रहा है। (विवेकियों की दृष्टि में तो सब कुछ आत्मा ही है) इस बात को जो तात्त्विक रूप से जानता है वह निशंक होकर (श्रुति और युक्ति से वेदार्थ की) कल्पना करता है ॥३०॥]

एतैः प्राणादिभिरात्मनोऽपृथग्भूतैरपृथग्भावैरेष आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितोऽभिलक्षितो निश्चितो मूढै-रित्यर्थः। विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नाऽऽत्म-व्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्यभिप्रायः "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० २।४।६,४।५।७) इति श्रुतेः। एवमात्मव्यतिरेकेणासत्त्वं रज्जुसर्पवदा-त्मनि कल्पितानामात्मानं केवलं निर्विकल्पं यो वेद तत्त्वेनश्रुतितो

सर्वाधिष्ठान आत्मा को जानने वाला ही तत्त्वदर्शी है

सर्प रज्जु से अपृथक् होता हुआ भी अज्ञानियों को पृथक् दीखता है अर्थात् रस्सी और सर्प वहाँ पर भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही यह आत्मा अपने से अपृथक् प्राणादि भावों से पृथक् ही अविवेकियों को प्रतीत होता है। वह समझता है कि आत्मा भी पारमार्थिक पदार्थ है और उससे उत्पन्न प्राणादि प्रपञ्च भी पारमार्थिक है। किन्तु विवेकियों की दृष्टि में अधिष्ठान की सत्ता से कल्पित वस्तु की सत्ता भिन्न नहीं मानी गयी है। अतः उनकी दृष्टि में जैसे रज्जु में कल्पित सर्पादि रज्जु की सत्ता से भिन्न सत्ता वाले नहीं हैं वैसे ही सर्वाधिष्ठान आत्मा की सत्ता से प्राणादि विकल्प भिन्न सत्ता वाले नहीं। यही इसका अभिप्राय है। इसीलिए यह जो कुछ है वह आत्मा है ऐसा

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥३१॥

[जैसे (न होते हुए भी अविवेकियों द्वारा) स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसे गन्धर्व नगर देखते देखते अकस्मात् विलीन होते देखा गया है, वैसे ही विचक्षण पुरुषों ने श्रुतियों में इस जगत् को देखा है ॥३१॥]

युक्तितश्च सोऽविशङ्कितो वेदार्थं विभागतः कल्पयेत्कल्पयतीत्यर्थः। इदमेवंपरं वाक्यमदोऽन्यपरमिति। "न ह्यनध्यात्मविद्वेदाञ्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः। न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुत" (मनु० स्मृ० ६.८२) इति हि मानवं वचनम् ॥३०॥

यदेतद्द्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्तितस्तदेतद्वेदान्तप्रमाणावगतमि-

---

श्रुति भी कह रही है। इस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प की भाँति आत्मा में कल्पित पदार्थ आत्मा से भिन्न रूप में असत् हैं और कल्पना-शून्य केवल आत्मा ही सत्य है। उस आत्मा को तत्त्वतः श्रुति और युक्ति से जो जानता है वह निःशंक होकर 'यह वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादक है और वह वाक्य अन्य अर्थ का प्रतिपादक है' इस प्रकार विभाग पूर्वक वेदार्थ की कल्पना कर सकता है। अध्यात्म-ज्ञान से शून्य कोई भी व्यक्ति वेदों को तत्त्वतः नहीं जान सकता। इसीलिये मनु का भी वचन है कि "अध्यात्म तत्त्व को न जानने वाला कोई पुरुष क्रिया फल को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि अग्नि-होत्रादि क्रिया का अन्तिम फल सत्त्वशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान ही तो है ऐसे तत्त्वज्ञानरूप फल को अविवेकी नहीं प्राप्त कर सकता यही मनु का अभिप्राय है ।३०।

द्वैत मिथ्यात्व वेदान्तगम्य है

'यह जो द्वैत का मिथ्यात्व युक्तिपूर्वक बतलाया गया, वह केवल

त्याह। स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके असत्यौ सद्वस्त्वात्मिके इव लक्ष्येते अविवेकिभिः। यथा च प्रसारितपण्या-पणगृह प्रासाद स्त्रीपुंजनपदव्यवहाराकीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्य-मानमेव सदकस्मादभावतां गतं दृष्टम्। यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे तथा विश्वमिदं द्वैतं समस्तमसद्दृष्टम्। क्वेत्याह। वेदान्तेषु। "नेह नानाऽस्ति किंचन" (क० २।१।११ बृ० ४।४।१९)। "इन्द्रो मायाभिः" (बृ० २.५.१९)। "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।१७)। "ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।१०)। "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० १।४।२)। "न तु तद्द्वितीयमस्ति

वेदान्त प्रमाण से ही जाना जा सकता है इसी अभिप्राय से आगे की कारिका कहते हैं। स्वप्न और माया, जो असद्वस्तु स्वरूप है, उन्हें अविवेकियों ने सद्वस्तु की भाँति देखा है। वे स्वप्न और माया से दिखलाये गये दुकान, बाजार, घर, महल और नगर निवासी स्त्री-पुरुषों के व्यवहार से भरपूर सा नगर देखते देखते ही जैसे अभाव को प्राप्त होता देखा गया है। ऐसे ही तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में देखते देखते ही इस संसार का अभाव देख लिया गया है। ऐसी स्थिति में जैसे स्वप्न और माया असद्रूप देखे गये हैं, वैसे ही यह सम्पूर्ण द्वैत जगत् असद्रूप देखा गया। कहाँ पर देखा गया और किसने देखा? इस पर कहते हैं कि श्रुतियों में निपुणतम तत्त्व-दर्शियों ने देखा है। यथा "यहाँ नाना कुछ नहीं है", "परमेश्वर ने मायासे"; "सृष्टि से पहले यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही था"; "उत्पत्ति से पहले यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही था", "निःसन्देह ही भेद से भय होता है", "उस ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है" "यहाँ तो उस तत्त्वदर्शी के लिए सब आत्मा ही हो गया" इत्यादि श्रुतियों में निपुणतर वस्तुतत्त्वदर्शी पण्डितों द्वारा द्वैत में मिथ्यात्व देखा गया है। यही इसका अभिप्राय है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥३२॥

[न प्रलय है, न उत्पत्ति है, और न संसारीबद्धजीव है, न मोक्ष का साधन ही है तथा न मुमुक्षु हैं, न बन्धन मुक्त ही है। बस ! यही परमार्थता है ॥३२॥]

(बृ० ४।३।२३)। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० ४।५।१५) इत्यादिषु। विचक्षणैर्निपुणतरवस्तुदर्शिभिः पण्डितैरित्यर्थः।

"तमः श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्" ॥

इति व्यासस्मृतेः ॥ ३१ ॥

प्रकरणार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः। यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः संस्तदेदं निष्पन्नं भवति सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति तदा न विरोधः। निरोधनं निरोधः

मन्द अन्धकार में अधिष्ठान में सर्पादिभ्रान्ति के समान घने अज्ञानान्धकार में यह जगत् वर्षा की बूँदों के समान नाश हो जाने वाले सुखादि से शून्य, नाश के बाद अभाव को प्राप्त हो जाने वाला तत्त्वदर्शियों से देखा गया है" इस व्यास स्मृति से भी वही बात सिद्ध होती है ॥३१॥

पारमार्थिक वस्तु यह है

आगे का यह श्लोक इस प्रकरण के विषय के उपसंहारार्थ है। जब द्वैत असत है और एकमात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है तब यह सिद्ध हो जाता है कि यह सम्पूर्ण लौकिक वैदिक व्यवहार अविद्याविषयक ही है।

व्यवहारमात्र अविद्या विषयक होने से परमार्थ अवस्था में न

प्रलय उत्पत्तिर्जननं बद्धः संसारी जीवः साधकः साधनान्मोक्षस्य मुमुक्षुर्मोचनार्थी मुक्तो विमुक्तबन्धः। उत्पत्तिप्रलययोरभावाद्बद्धादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता। कथमुत्पत्तिप्रलययोरभाव इत्युच्यते। द्वैतस्यासत्त्वात्। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० २।४।१४)। "य इह नानेव पश्यति" (क० २।१।१०।११)। आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० ७।२५।२)। "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (नृसिंहोत्तर०) 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१)। इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६, ४।५।७)। इत्यादिना श्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम्। सतो ह्युत्पत्तिः प्रलयो वा स्यान्नासतः शशविषाणादेः। नाप्यद्वैतमुत्पद्यते लीयते वा। अद्वयं चोत्पत्तिप्रलयवच्चेति विप्रतिषिद्धम्। यस्तु पुनर्द्वैतसंव्य-

---

निरोध है (अर्थात् प्रलय नहीं है), न उत्पत्ति है, न बँधा हुआ संसारी जीव है, न मोक्ष के साधन से सम्पन्न साधक ही है, न मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु है और न बन्धन से छूटा हुआ मुक्त ही है। जब उत्पत्ति और प्रलय का अभाव है तो बद्ध आदि भी नहीं है। बस यही पारमार्थिक तत्त्व है।

उत्पत्ति और प्रलय का अभाव कैसे है? इस पर कहते हैं कि द्वैत के मिथ्यात्व होने से तदन्तःपाती उत्पत्ति और प्रलय का भी अभाव है। "जहाँ द्वैत की भाँति होता है"; "जो यहाँ पर द्वैत की भाँति देखता है", "यह सब आत्मा ही है", "यह सब ब्रह्म ही है", "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", "वह जो कुछ है सब आत्मा ही है इत्यादि अनेक श्रुतियों से द्वैत में मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

सत की ही उत्पत्ति या प्रलय हो सकती है। शशशृङ्गादि असत् वस्तु की न उत्पत्ति और न प्रलय ही होता है। वैसे ही अद्वैत भी न उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। 'अद्वितीय हो और उत्पत्तिनाश वाला भी हो ऐसा कहना तो सर्वथा विरुद्ध है। किन्तु जो प्राणादिरूप द्वैत व्यवहार है वह रज्जु में सर्प की भाँति अधिष्ठान

वहारः स रज्जुसर्पवदात्मनि प्राणादिलक्षणः कल्पित इत्युक्तम्। न हि मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा। न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा न चोभयतो वा। तथा मानसत्वाविशेषाद्द्वैतस्य। न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते। अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम्। तस्मात्सूक्तं द्वैतस्यासत्त्वान्निरोधाद्यभावः परमार्थतेति।

आत्मा में कल्पित है। ऐसा पहले कहा जा चुका है। रज्जु सर्पादि-रूप मनःकल्पित वस्तु का ही रज्जु में उत्पत्ति या प्रलय नहीं होता और न मन में रज्जु सर्प की उत्पत्ति या प्रलय होता है। वैसे ही मन और रज्जु दोनों में ही रज्जु सर्प की उत्पत्ति या प्रलय नहीं कह सकते। ऐसे ही द्वैत का मनोमयत्व भी समान ही है। क्योंकि मन के समाहित हो जाने पर या सुषुप्तिकाल में द्वैत का भान सर्वथा नहीं होता। अतः अन्वय व्यतिरेक से यह सिद्ध हुआ कि द्वैत मन की कल्पना मात्र है। इसलिए यह भी ठीक ही कहा गया है कि द्वैत के मिथ्या होने से निरोध आदि का अभाव ही पारमार्थिकत्व है।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसी बात है तो शास्त्रव्यापार द्वैत के अभाव प्रतिपादन में है, अद्वैत-बोध में नहीं। क्योंकि अद्वैत बोध में शास्त्र व्यापार मानने पर द्वैत प्रसक्ति रूप विरोध आता है। ऐसी स्थिति में अद्वैत के पारमार्थिकत्व होने में कोई प्रमाण न मिलने के कारण शून्यवाद का प्रसंग आ जाता है। क्योंकि द्वैत का अभाव है और अद्वैत बोध में कोई प्रमाण नहीं।

सिद्धान्त पक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि रज्जु सर्पादि विकल्प का अधिष्ठान के बिना होना संभव नहीं। वैसे ही अधिष्ठान के बिना प्रपञ्च की कल्पना भी नहीं हो सकती। इस प्रकार शून्यवाद का निराकरण हम पहले भी कर आये हैं फिर उस निराकृत प्रश्न का उत्थापन क्यों करते हो?

यद्येवं द्वैताभावे शास्त्रव्यापारो नाद्वैते विरोधात्। तथा च सत्यद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवादप्रसङ्गः। द्वैतस्य चाभावान्न रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्पदत्वानुपपत्तिरिति प्रयुक्तमेत्कथमुज्जीवयसीत्याह। रज्जुरपि सर्पविकल्पस्याऽऽस्पदभूता विकल्पितवेति दृष्टान्तानुपपत्तिः। न। विकल्पनाक्षयेऽविकल्पतस्याविकल्पितत्वादेव सत्त्वोपपत्तेः। रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति। चेत्। न। एकान्तेनाविकल्पितत्वादविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक्सर्पाभावविज्ञानात्। विकल्पयितुश्च प्राग्विकल्पनोत्पत्तेः सिद्धत्वाभ्युपगमादसत्त्वानुपपत्तिः।

पू० प०—इस पर शून्यवादी कहता है कि जब सम्पूर्ण विश्व कल्पित है तो विश्व की अन्तःपाती रज्जु भी कल्पित है। फिर भला रज्जु सर्प का दृष्टान्त विश्वकल्पना के लिए कैसे सम्भव होगा?

सि० प०—ऐसा कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि कल्पना के नष्ट हो जाने पर अविकल्पित आत्मा की सत्ता अविकल्पितत्व के कारण ही सिद्ध हो जाती है। यह निर्विवाद है कि किसी भी कल्पना का अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। यदि कहो कि अद्वैत भी असत् है, अप्रामाणिक होने से, रज्जुसर्प की भाँति। तो ऐसा कहना ठीक नहीं। रज्जुसर्प के मिथ्या होने में भ्रान्ति विषयत्व प्रयोजक है। आत्मा भ्रम का साक्षी है न कि भ्रम का विषय। अतः अविकल्पित रज्जु अंश के समान सर्पाभाव ज्ञान से पहले वह सर्वथा अविकल्पित ही है। विकल्प में ही रज्जु का सामान्य अंश कल्पित सर्प के साथ तादात्म्य होकर भासता है। फिर भी वह सामान्य अंशस्वरूप से कल्पित नहीं है, केवल उसका तादात्म्य संसर्ग ही कल्पित है। इसके अतिरिक्त विकल्प करने वाले की सत्ता विकल्प उत्पत्ति से पूर्व भी सिद्ध मानी गई है। अतः विकल्प के अधिष्ठान आत्मा की असत्ता किसी भी प्रकार से नहीं मानी जा सकती।

पू० प०—जब आत्मस्वरूप में शास्त्र का व्यापार ही नहीं है तो

कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम्। नैष दोषः। रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात्। कथं सुख्यहं दुःखी मूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान्पश्यामि व्यक्तोऽव्यक्तः कर्ता फली संयुक्तो वियुक्तः क्षीणो वृद्धोऽहं ममैत इत्येवमादयः सर्वे आत्मन्यध्यारोप्यन्ते। आत्मैतेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात्। यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः। यदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्तव्यत्वं शास्त्रेण। अकृतकर्तृ च शास्त्रं कृतानुकारित्वेऽप्रमाणम्। यतोऽविद्याध्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धादेवाऽऽत्मनः स्वरूपेणानवस्थानं स्वरूपावस्थानं च न श्रेय इति।

फिर भला द्वैत विज्ञान का निवर्तक शास्त्र कैसे हो सकता है?

सि०प०—यह दोष भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे रज्जु में सर्पादि अज्ञान से कल्पित हैं, वैसे ही आत्मा में द्वैत प्रपञ्च अविद्या से कल्पित है। कैसे? "मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूर्ख हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ, मैं मर गया, मैं बूढ़ा हो गया, देहधारी हूँ, देखता हूँ, अव्यक्त हूँ, कर्त्ता हूँ, फलवाला हूँ, संयुक्त हूँ, वियुक्त हूँ, क्षीण हूँ, वृद्ध हूँ, ये मेरे हैं इत्यादि विकल्प आत्मा में कल्पित किए जाते हैं और आत्मा इन सभी विकल्पों में अनुगत है।

विकल्पों का परस्पर व्यभिचार होते हुए भी अहं तत्त्व आत्मा का सर्वत्र अव्यभिचार है। जैसे सर्प, जलधारादि विकल्पों से रज्जु का अव्यभिचार है क्योंकि रज्जु के इदमंश की प्रतीति सभी विकल्पों के साथ होती ही है।

जब ऐसी बात है तो विकल्प विशेषणों के विशेष्य रूप ब्रह्म के स्वरूप बोध में शास्त्र का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं क्योंकि अहं प्रतीति के विषय आत्मा रूप विशेष्य का सदा भान हो रहा ही है। शास्त्र तो अज्ञात का ज्ञापक होता है और सिद्ध वस्तु के अनुवाद करने पर शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। इसलिए यह मानना ही ठीक है कि द्वैत निषेध

सुखित्वादिनिवर्तकं शास्त्रमात्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन नेति नेत्यस्थूलादिवाक्यैरात्मस्वरूपवदसुखित्वाद्यपि सुखित्वादिभेदेषु नानुवृत्तोऽस्ति धर्मः। यद्यनुवृत्तः स्यान्नाध्यारोपितसुखित्वादिलक्षणो विशेषः। यथोष्णत्वविशेषवत्यग्नौ शीतता। तस्मान्निर्विशेष एवाऽऽत्मनि सुखित्वादयो विशेषाः कल्पिताः। यत्त्वसुखित्वादिशास्त्रमात्मनस्तत्सुखित्वादिविशेषानिवृत्त्यर्थमेवेति सिद्धम्। "सिद्धं तु निवर्तकत्वात्" इत्यागमविदां सूत्रम् ॥३२॥

में शास्त्र प्रमाण, अद्वैत बोध में नहीं, क्योंकि अविद्या से कल्पित सुखित्व आदि रूप विशेष प्रतिबन्धकों के कारण ही आत्मा का स्वरूपतः अवस्थान नहीं हो रहा है और स्वरूपतः अवस्थान को ही मोक्ष कहा है। इसलिए 'नेति नेति' एवं 'अस्थूलमनणु' इत्यादि वाक्यों से आत्मा में असुखित्व आदि बोध कराकर सुखित्व आदि कल्पित धर्म को निवृत्त कर डालता है। जिस प्रकार आत्मा का स्वरूप सुखित्वादि विकल्प भेद में अनुवृत्त नहीं होता, वैसे ही असुखित्वादि धर्म भी कल्पित भेद में अनुस्यूत नहीं होता। यदि असुखित्वादि का भान आत्मस्वरूप के समान ही होने लग जाय तो कल्पित सुखित्वादि रूप विशेष का भान ही न हो। जैसे उष्णत्व धर्म विशेष वाले अग्नि में शीतता का आरोप नहीं होता। अतः निर्विशेष आत्मा में सुखित्वादि रूप विशेष कल्पित हैं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि जो आत्मा के विषय में असुखित्वादि बोधक शास्त्र है वह भी केवल सुखित्वादि कल्पित विशेषनिवृत्ति के लिए ही है।

इसी विषय में शास्त्रवेत्ता द्रविडाचार्य का सूत्र भी है। असुखित्वादि रूप कल्पित धर्मों का निवर्तक होने से शास्त्र प्रामाणिक है। स्वाभाविक द्वैताभाव के बोधन से अध्यस्त वस्तु की निवृत्ति हो जाने के कारण शास्त्र को प्रमाण माना है ॥३२॥

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः ।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद्द्वयता शिवा ॥३३॥

[रज्जु सर्प की भाँति यह आत्मतत्त्व प्राणादि अनन्त असद् भावों से और अद्वैतरूप से कल्पित है। वे प्राणादि असद् भाव भी अद्वैत सत्स्वरूप आत्मा में ही कल्पना किये गये हैं। अतः अद्वैत भाव ही मंगलमयहै ॥३३॥]

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह—यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधाराभिदरद्वि-येन च रज्जुद्रव्येण सताऽयं सर्प इयं धारा दण्डोऽयमिति वा रज्जु-द्रव्यमेव कल्प्यत एवं प्राणादिभिरनन्तैरसद्भिरेवाविद्यमानैः, न परमार्थतः। न ह्यप्रचलिते मनसि कश्चिद्भाव उपलक्षयितुं शक्यते केनचित्। न चाऽऽत्मनः प्रचलन मस्ति। प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः। अतोऽसद्भिरेवः

अद्वैत भाव ही मङ्गलमय है।

पूर्वश्लोक के अर्थ को सिद्ध करने के लिए हेतु दिखलाते हैं जैसे रज्जु में असत् सर्प, जलधारादि भावों से एवं सत् अद्वितीय रज्जु-द्रव्य रूप से यह सर्प है, यह जलधारा है या यह दण्ड है। इस प्रकार रज्जुद्रव्य ही कल्पित किया जाता है। ऐसे ही परमार्थ दृष्टि से अविद्यामान असंख्य प्राणादि रूप से आत्मा ही कल्पित हो रहा है। अर्थात् उन सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान आत्मा ही है,क्योंकि मन के कल्पना शून्य हो जाने पर किसी भी व्यक्ति से कोई भी भाव देखा नहीं जा सकता। आत्मा में प्रचलनरूप धर्म नहीं है। जो प्रच-लित होता है, ऐसे चित्र से दीखने वाले पदार्थ परमार्थतः सत्य है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः आत्मा स्वयं सत् स्वरूप है वह रज्जु की भाँति परमार्थ सत्, अद्वितीयरूप है। उसी अपने रूप

प्राणादिभावैरद्वयेन च परमार्थसताऽऽत्मना रज्जुवत्सर्वविकल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवाऽऽत्मा कल्पितः सदैकस्वभावोऽपि संस्ते च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सताऽऽत्मना विकल्पिताः। न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलभ्यते। अतः सर्वकल्पनास्पदत्वात्वेनाऽऽत्मनाऽद्वयस्याव्यभिचारात्कल्पनावस्थायामप्यद्वयता शिवा। कल्पना एव त्वशिवाः। रज्जुसर्पास्दिवत्त्रासादिकारिण्यो हि ताः। अद्वयताऽभयाऽत सैव शिवा ॥३३॥

में रहते हुए ही असत् स्वरूप प्राणादि सम्पूर्ण विकल्पों के आश्रय रूप से रज्जु की भाँति कल्पित हो रहा है और स्वयं एकमात्र सत्स्वरूप ही है। तात्पर्य यह कि अनेक कल्पनाओं के होने पर भी रज्जु स्वरूप से अविकल्पित होती हुई सर्पादि रूप से कल्पित मानी गयी है। वैसे स्वरूपतः विकल्पशून्य होता हुआ भी आत्मा प्राणादिरूप से अज्ञानियों द्वारा कल्पित हो गया है।

वे प्राणादि पदार्थ भी अद्वितीय सत्स्वरूप आत्मा से ही कल्पना किये गये हैं, क्योंकि कोई भी कल्पना आधार के बिना नहीं देखी गयी। अतः सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान होने से स्वरूपतः अद्वैत तत्त्व का व्यभिचार नहीं होता। विशेष क्या? कल्पना अवस्था में भी परमार्थतः अद्वितीयता ही मङ्गलमयी है। केवल कल्पना ही अमङ्गलमयी मानी गई है, क्योंकि रज्जु-सर्प की भाँति वे भय कम्पादि के कारण हैं और अद्वितीयता अभयस्वरूप है। अतः इस अद्वयरूप को मङ्गलमय मानना सर्वथा उचित ही है ॥३३॥

नाऽऽत्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन।
न पृथङ्नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥३४॥

[अद्वितीयब्रह्म में यह नानात्त्व न परमार्थआत्मस्वरूप से है और न अपने जगद् रूप से ही कुछ है। कोई भी वस्तु न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न है। ऐसा तत्त्वज्ञानी जानते हैं ॥३४॥]

कुतश्चाद्वयता शिवा। नानाभूतं पृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टं तत्राशिवं भवेत्। न ह्यत्राद्वये परमार्थसत्यात्मनि प्राणादिसंसार-जातमिदं जगदात्मभावेन परमार्थस्वरूपेण निरूप्यमाणं नाना वस्त्व-न्तरभूतं भवति। यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन निरूप्यमाणो न नानाभूतः कल्पितः सर्पोऽस्ति तद्वत्। नापि स्वेन प्राणाद्यात्मनेदं विद्यते कदाचिदपि रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वादेव। तथाऽन्योन्यं न पृथ-क्प्राणादि वस्तु यथाऽश्वान्महिषः पृथग्विद्यत एव। अतोऽसत्त्वान्ना-

---

तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में नानात्व है।

अद्वितीयता क्यों मङ्गलमयी है? जहाँ एक से दूसरेका पार्थक्य देखा गया है वहाँ असंगल होता है। किन्तु इस अद्वितीय परमार्थ सत्यस्वरूप आत्मा में यह प्राणादि संसार समुदाय जगत् परमार्थ-स्वरूप आत्मभाव से निरूपण किये जाने पर नानावस्त्वन्तर नहीं रह जाता। उस समय तो आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। जैसे प्रकाश में रज्जु रूप से देखने पर कल्पित सर्पादि भेद नहीं रहता वैसे ही परमार्थ दृष्टि से आत्मतत्त्व का निरूपण करने पर भेद प्रपञ्च नहीं रह जाता है। और न अपने प्राणादि रूप से ही जगत् रह जाता है क्योंकि रज्जु सर्प की भाँति वह तो सदा से कल्पित ही रहा है। अतः परमार्थ तत्त्व के बोध काल में अधिष्ठान दृष्टि से और अध्यस्त दृष्टि से भी कल्पित वस्तु का अभाव ही सिद्ध होता है।

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥३५॥

[जिनके राग, भय और क्रोधादि समस्त दोष मिट गये हैं, ऐसे वेद के पार गामी मननशील विवेकियों द्वारा ही यह निर्विकल्पप्रपञ्चोपशम अद्वैत देखा गया है ॥३५॥

पृथग्विद्यतेऽन्योन्यं परेण वा किंचिदिति एवं परमार्थतत्त्वमात्मविदो ब्राह्मणा विदुः। अतोऽशिवहेतुत्वाभावादद्वयतैव शिवेत्यभिप्रायः।३४।

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते। विगतरागभयद्वेषक्रोधादिसर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलैर्विवेकिभिर्वेदपारगैरवगतवेदार्थतत्त्वैर्ज्ञानिभि निर्विकल्पः सर्वविकल्पशून्योऽयमात्मा दृष्टा उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चोपशमः प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारस्तस्यपशमोऽभावो

एवं जैसे घोड़े से भैंसा पृथक् है, वैसे प्रमादि वस्तु परस्पर पृथक् नहीं हैं, और असत् होने से परस्पर या किसी अन्यरूप से कोई भी वस्तु अपृथक् नहीं है। ऐसा आत्मदर्शी ब्राह्मण लोग परमार्थ तत्त्व को जानते हैं। अतः असंगल के कारण का अभाव हो जाने से अद्वय भाव ही मङ्गलमय है। यह इसका अभिप्राय है ॥३४॥

वीत राग तत्त्वदर्शी उक्त रहस्य का ज्ञाता है।

अब इस सम्यक् दर्शन की स्तुति की जाती है। जिनके राग, भय, द्वेष, क्रोधादि सम्पूर्ण दोष निवृत्त हो चुके हैं, उन सर्वदा मननशील विवेकी मुनियों और वेद पारंगत वेदार्थ के मर्म जानने वाले औपनिषदर्थ के तत्त्वज्ञों द्वारा यह आत्मा जाना गया है, जो कि सम्पूर्ण विकल्पों से रहित प्रपञ्च-उपराम रूप है। द्वैत-विस्तार को प्रपञ्च कहते हैं। वह प्रपञ्च जिसका निवृत्त हो गया हो ऐसी आत्मा को प्रपञ्च उपराम कहते हैं। इसी लिए वह अद्वयस्वरूप है। वही

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥३६॥

इसलिये इस अद्वैत आत्मतत्त्व को इस प्रकार से जानकर अद्वैत में ही मन को लगावे, तथा सर्वलोक व्यवहारातीत अद्वैततत्त्व को भली प्रकार से प्राप्त कर लोक में जड़वत् आचरण करे ॥३६॥

यस्मिन्स आत्माप्रपञ्चोपशमोऽत एवाद्वयः। विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थतत्परैः संन्यासिभिः परमात्मा द्रष्टुं शक्यो नान्यैरागादिकलुषितचेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैस्तार्किकादिभिरित्यभिप्रायः ॥३५॥

यस्मात्सर्वानर्थप्रशमरूपत्वादद्वयं शिवमभयमत एवं विदित्वैनमद्वैते स्मृतिं योजयेत्। अद्वैतावगमायैव स्मृतिं कुर्यादित्यर्थः। तच्चाद्वैतमवगम्याहमस्मि परं ब्रह्मेति विदित्वाऽशनाद्यतीतं साक्षादपरोक्षादजमात्मानं सर्वलोकव्यवहारातीतं जडवल्लोकमाचरेत्। अप्रख्यापयन्नात्मानमहमेवंविध इत्यभिप्रायः ॥३६॥

आत्मा वेदान्तार्थ में तत्पर दोषहीन तत्त्वदर्शी संन्यासियों द्वारा देखा जाना शक्य है। अन्य रागादि दोष से दूषित चित्त वाले अपने पक्ष में मिथ्या दुराग्रह रखने वाले तार्किकों से इस आत्माका देखा जाना सर्वथा शक्य नहीं है यह इसका तात्पर्य है ॥३५॥

तत्त्वज्ञानी का व्यवहार

जब कि सम्पूर्ण अनर्थों के सर्वथा रूप होने से अद्वैत ही मङ्गलमय और अभय रूप है। इसीलिए इस प्रकार जानकर अद्वैत तत्त्व में मन को लगाये। ज्ञानी अद्वैतबोध के लिए सदा अद्वैत तत्त्व का ही चिन्तन करे और इस अद्वैत को जानकर "मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ", ऐसा जानकर क्षुधा पिपासा से अतीत सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार से अतीत आत्मा को साक्षात् अपरोक्ष अनुभव कर तत्त्वज्ञ पुरुष जडवत्

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥३७॥

तत्त्वदर्शी यति को, स्तुति, नमस्कार, स्वधाकार आदि सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो चल (शरीर) और अचल (आत्म तत्त्व) में ही विश्राम लेना चाहिये तथा यदृच्छा लाभ संतुष्ट होना चाहिये ॥३७॥

कया चर्यया लोकमाचरेदित्याह—स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्मवर्जितस्त्यक्तसर्वबाह्यैषणः प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्य इत्यभिप्रायः । "एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (बृ० ३।५।१) इत्यादिश्रुतेः । "तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः" (गी० ५।१७) इत्यादिस्मृतेश्च । चलं शरीरं प्रतिक्षणमन्यथाभावात् । अचलमात्मतत्त्वम् । यदा कदाचिद्भोजनादिव्यवहारनिमित्तमाकाशवदचलं---स्वरूपमात्मतत्त्वमात्मनो

लोकाचरण करे । भाव यह है कि 'मैं इस प्रकार का हूँ" ऐसा अपने को न बतलाता हुआ अज्ञ के समान लोक में व्यवहार करे ।

किस चर्या से लोक व्यवहार करे? इस पर आगे कहते हैं । स्तुति नमस्कारादि सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर बाह्यसर्वैषणा से मुक्त परमहंस पारिव्राज्य भाव को प्राप्त हुआ लोक व्यवहार करे । क्योंकि "निःसन्देह इस आत्मा को जानकर" इत्यादि श्रुति तथा "जिनकी बुद्धि, आत्मा और निष्ठा एक मात्र परमात्मा में ही लगी हुई है, तथा जो उसी के परायण हो चुके हैं" इस स्मृति से भी यही सिद्ध होता है । यह शरीर चल है क्योंकि यह प्रतिक्षण बदलता रहता है । किन्तु आत्मतत्त्व अचल है । इसी आत्मतत्त्व में तत्त्वज्ञ स्थित रहता है । यदा कदाचित् भोजनादि व्यवहार निमित्त से अपने स्वरूप भूत आकाश के समान अचल आत्मतत्त्व को जो अपना आश्रय है, ऐसी आत्मस्थिति को भूलकर "मैं हूँ" ऐसा अभिमान करता है, तब चल

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥३८॥

इति गौडपादीयकारिकायां वैतथ्याख्यं द्वितीय प्रकरणम् ।२।

[तत्त्वज्ञानी आध्यात्मिकतत्त्व को देखकर और पृथिव्यादि बाह्य-तत्त्व को भी समझकर तत्त्वीभूत हो तत्त्व में ही रमण करने वाला होकर कभी भी तत्त्वसे प्रच्युत न हो ॥ ३८ ॥

निकेतमाश्रयमात्मस्थितिं विस्मृत्याहमिति मन्यते यदा तदा चलो देहो निकेतो यस्य सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान्न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः। स च याद्दच्छिको भवेत्। यद्दच्छाप्राप्तकोपीनाच्छादनग्रासमात्रदेह-स्थितिरित्यर्थः ॥३७॥

बाह्यं पृथिव्यादि तत्त्वमाध्यात्मिकं च देहादिलक्षणं रज्जुसर्पादि-वत्स्वप्नमायादिवच्चासत्। "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० ६।१।४) इत्यादिश्रुतेः। "आत्मा च सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजो-ऽपूर्वोनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्न आकाशवत्सर्वगतः सूक्ष्मोऽचलो निर्गुणो

देहरूप निकेत वाला हो जाता है। इस प्रकार वह तत्त्वज्ञ कभी देह रूप चल निकेत वाला और कभी आत्मतत्त्व रूप अचल निकेत वाला होकर रहता है। अर्थात् बाह्य विषयों का आश्रय न लेकर 'यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट' हो जाता है। भाव यह कि बिना इच्छा किये हुए अनायास प्राप्त कौपीन आच्छादन और ग्रास मात्र से जिसकी देह की स्थिति हो, ऐसा वह तत्त्वज्ञानी हो जाता है ॥३७॥

अचल तत्त्वनिष्ठा का प्रभाव

पृथिव्यादि बाह्य तत्त्व और देहादि रूप आध्यात्मिक तत्त्व रज्जु, और माया के समान मिथ्या हैं क्योंकि "नाम रूप वाणी से कहने मात्र के लिए" इत्यादि श्रुति भी बतला रही है। आत्मा बाह्य

निष्कलो निष्क्रियस्तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० ८।१६) इति श्रुतेः इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वीभूतस्तदारामो न बाह्यरमणो यथाऽतत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनु चलितमात्मानं मन्यमानस्तत्त्वाच्चलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽहमात्मतत्त्वादिदानीमिति। समाहिते तु मनसि कदाचित्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि तत्त्वीभूत इति। न तथाऽऽत्मविद्भवेत्। आत्मन एकरूपत्वात्स्वरूपप्रच्यवनासंभवाच्च। सदैव ब्रह्मास्मीत्यप्रच्युतो भवेत्तत्त्वात्सदाऽप्रच्युतात्मतत्त्वदर्शनो भवेदित्यभिप्रायः। "शुनि चैव श्वपाके च (गी० ५।१८")। "समं सर्वेषु भूतेषु (गी० १३।२७") इत्यादिस्मृतेः ॥३८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्ये वैतथ्याख्यं द्वितीयप्रकरणम् ॥२॥

आभ्यन्तर सर्वत्र विद्यमान, अजन्मा, कार्य कारण भाव से रहित, परिपूर्ण, आकाश के समान सर्वव्यापक, सूक्ष्म, चलनादि क्रिया से रहित, निर्गुण, निरवयव और निष्क्रिय है। क्योंकि "वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तू है" ऐसी श्रुति भी है। इस प्रकार तत्त्व को जानकर तद्रूप हो उसी में रमनेवाला बाह्यविषयों में न रमनेवाला हो जाता है। जैसे कोई अतत्त्वदर्शी चित्त को ही आत्मभाव से जाननेवाला चित्त के चञ्चल होने पर आत्मा को चलायमान मानता हुआ, तत्त्व से विचलित होकर देहादि को ही कदाचित् आत्मा मानने लगता है और इस समय 'मैं आत्मा तत्त्व से च्युत हो गया हूँ, ऐसा मानता है। वही किसी समय मन के समाहित होनेपर अपने को तत्त्वरूप और प्रसन्न समझता है कि, "इस समय मैं यथार्थ तत्त्व में स्थित हूँ।" किन्तु आत्मतत्त्वदर्शी वैसा नहीं होता। क्योंकि आत्मा सर्वदा एक रूप है; इसका स्वरूप से प्रच्युत होना कभी भी संभव

अथ गौडपादीयकारिकास्वद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणम् ।

ॐ उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥१॥

[(मैं उपासक हूँ, ब्रह्म मेरा उपास्य है इस प्रकार मोक्ष के साधन-रूप से) उपासना का आश्रय लेने वाला जीव कार्यब्रह्म में रह जाता है। एवं उत्पत्ति से पूर्व सब अजन्मा ब्रह्मरूप था। (उत्पत्ति के बाद नहीं), इसी कारण से वह साधन तत्त्वदर्शियों द्वारा दीन माना गया है ॥ १ ॥]

ओंकारनिर्णय उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आत्मेतिप्रतिज्ञा-मात्रेण। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इति च तत्र द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृष्टान्तैर्दृश्यत्वाद्यन्तवत्त्वादिहेतुभिस्तर्केण च

नहीं है। अतः तत्त्वज्ञ तो "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा सदा निश्चय कर तत्त्व से कभी प्रच्युत न हो, ऐसा आदेश है। इस विषय में "कुत्ते, चाण्डाल में भी विद्वान् समान दृष्टिवाले होते हैं" "सभी भूतों में समान भाव से स्थित परमात्मा को देखता है, इत्यादि स्मृति भी प्रमाण हैं ॥३८॥

इस प्रकार वैतथ्य प्रकरण शांकरभाष्य की विद्यानन्दी
मिताक्षरा समाप्त हुई।

अथ तृतीय अद्वैत प्रकरण प्रारम्भ

भेददर्शी दीन होता है।

'आत्मा प्रपञ्च का आशयस्वरूप, मङ्गलमय अद्वैतरूप है' ऐसी प्रतिज्ञा मात्र से पहले प्रकरण में ओंकारार्थ का निर्णय किया गया था और "अद्वैततत्त्व को जान लेने पर द्वैत नहीं रह जाता" ऐसा भी कहा गया था। पुनः वैतथ्य प्रकरण द्वारा स्वप्न, माया, गन्धर्व-

प्रतिपादितः । अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित्तर्केणा-पीत्यत आह । शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम् । तत्कथमित्यद्वैतप्रकरण-मारभ्यते । उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं वितथं केवलश्चाऽऽत्माऽद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे । यतः उपासनाश्रित उपासना-मात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गत उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म । तदु-पासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं वर्तमानोऽजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च । यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्ते-रिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रति-पत्स्य इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैवं क्षुद्रब्रह्मवित्तेनासौ

गरादि दृष्टान्त से एवं दृश्यत्व आद्यन्तवत् आदि हेतुओं से तर्क द्वारा द्वैतप्रपञ्च का अभाव वतलायागया। क्या श्रुतिप्रमाण मात्र से ही अद्वैत जाना जा सकता है या तर्क से भी? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि तर्क से भी वह जाना जा सकता है। कैसे? तो इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह अद्वैत प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा रहा है। उपास्य उपासनादि सम्पूर्ण भेदसमुदाय है और केवल अद्वितीय आत्मा ही परमार्थ वस्तु है। यह पहले प्रकरण में निश्चित हो चुका है। क्योंकि, उपासना को आत्मा की मुक्ति की साधना रूप से जानने वाले उपासनाश्रित कहे गये हैं। मैं उपासक हूँ, ब्रह्म मेरा उपास्य है, उसकी उपासना कर जो आज तक मैं कार्य ब्रह्म में स्थित हूँ, वही शरीर-पात के बाद अजन्मा ब्रह्म को प्राप्त कर लूँगा। जगत् उत्पत्ति से पूर्व यह सम्पूर्ण संसार तथा हम अजन्मा ब्रह्म ही थे। सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व जैसा रूप वाला मैं था, अब उत्पन्न होकर इस समय कार्य ब्रह्म में रह रहा हूँ। पुनः उपासना से उसी अजन्मा ब्रह्म को प्राप्त कर जाऊँगा इस प्रकार उपासना का आश्रय लेने वाला साधक कृपण, दीन, 'यानी' क्षुद्र माना गया है। क्योंकि वह क्षुद्र ब्रह्म को जानता है। इसी से वह उपासक नित्य अजन्मा

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः ॥ २ ॥

[इसलिये अब मैं सर्वत्र समानता को प्राप्त अजन्मा, अदीन भाव का निरूपण करता हूँ । जिससे कि यह समझ में आ जावे कि रज्जु सर्प की भाँति आविद्यक दृष्टि के कारण) सभी ओर से उत्पन्न होता हुआ भी जिस प्रकार कुछ उत्पन्न नहीं होता है ॥ २ ॥]

कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो नित्याजब्रह्मदर्शिभिरित्यभिप्रायः । "यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेवब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के०।१।७) इत्यादिश्रुतेस्तलवकाराणाम् ॥ १ ॥

सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्नविद्यया दीनमात्मानं मन्यमानो जातोऽहं जाते ब्रह्मणि वर्ते तदुपासनाश्रितः सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं प्रतिपन्नः कृपणो भवति यस्मादतो वक्ष्याम्यकार्प-

---

ब्रह्मदर्शियों द्वारा दीन कहा गया है । यह इसका भाव है ।

ऐसे ही "जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिसके द्वारा वाणी प्रकाशित होती है, उसी को ब्रह्म समझो । जिस उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म की उपासना लोग करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ।" इत्यादि तलवकार शाखीय श्रुति भी प्रमाण है ॥१॥

अदैन्यनिरूपण की प्रतिज्ञा

बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान अजन्मा आत्मा को अविद्या के कारण प्राप्त न कर सकने के कारण अपने आप को दीन मानता हुआ पुरुष ऐसा कहता है कि, "मैं उत्पन्न हुआ हूँ इस समय कार्यब्रह्म में विद्यमान हूँ और उपासना का आश्रय लेकर ही अजन्मा ब्रह्म को प्राप्त करूँगा । बस इसी भावना के कारण वह दीन है । इसलिए मैं अब "अकार्पण्य, दीनता से शून्य, अजन्मा ब्रह्म" को

ण्यमकृपणभावमजं ब्रह्म। तद्धि कार्पण्यास्पदम् "यत्रान्योऽन्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यमसत् (छा० ७।२४।१)" "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयम् (छा० ६।१।४)" इत्यादिश्रुतिभ्यः। तद्विपरीतं सबाह्याभ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म यत्प्राप्याविद्याकृतसर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः। तदजाति, अविद्यमाना जातिरस्य। समतां गतं सर्वसाम्यं गतम्। कस्मात्। अवयववैषम्याभावात्। यद्धि सावयवं वस्तु तदवयववैषम्यं गच्छञ्जायत इत्युच्यते। इदं तु निरवयवत्वात्समतां गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुटत्यतोऽजात्यकार्पण्यम्। समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किंचिदल्पमपि न स्फुटति रज्जुसर्पवदविद्याकृतदृष्ट्या

बतलाऊँगा। क्योंकि, "जो दीनता का आश्रय होता है उसे जहां अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य को जानता है, वह अल्प है, मरने वाला है एवं असत् है" कार्य वाणी से आरम्भ होने वाले नाम मात्र के लिए हैं" इत्यादि श्रुतियों से नश्वर एवं तुच्छ कहा गया है। उससे विपरीत बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान 'अजन्मा भूमा' नामक ब्रह्म को अकार्पण्यरूप कहा गया है। जिसे प्राप्त कर अविद्याकृत सम्पूर्ण दीनता की निवृत्ति हो जाती है। उसी दीन भाव से शून्य ब्रह्म को मैं बतलाऊँगा।

जिसकी जाति न हो उसे अजाति कहते हैं। वह अजाति ही सर्वसाम्य भाव को प्राप्त है। क्यों ? क्योंकि, उसमें अवयव की विषमता नहीं है। "जो वस्तु सावयव होती है, वही अवयव-वैषम्य को प्राप्त हो जन्मती है ऐसा कहा गया है। यह ब्रह्म तो निरवयव होने से समता को प्राप्त है। इसलिए इन्हीं अवयवों के कारण परिस्फुटित नहीं होता। अतः यह अजन्मा ब्रह्म ही दीन भाव से रहित है। जैसे कोई भी वस्तु सभी ओर से उत्पन्न नहीं होती और न नष्ट ही होती है। रज्जुसर्प की भांति अविद्या दृष्टि से उत्पन्न

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥ ३ ॥

[परमात्मा ही आकाश के समान सूक्ष्म निरवयव और व्यापक है। वह घटाकाशों के समान क्षेत्रज्ञ जीव रूप से उत्पन्न हुआ कहा गया है एवं मिट्टी से घटादि के समान देह संघात रूप में भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है। (बस, आत्मा से जीवादि की) उत्पत्ति के विषय में यही दृष्टान्त है ॥३॥]

जायमानं येन प्रकारेण न जायते सर्वतोऽजमेव ब्रह्म भवति तथा तं प्रकारं शृणिवत्यर्थः ॥ २ ॥

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामिति प्रतिज्ञातं तत्सिद्ध्यर्थं हेतुं दृष्टान्तं च वक्ष्यामीत्याह—आत्मा परो हि यस्मादाकाशवत्सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगत आकाशवदुक्तो जीवैः क्षेत्रज्ञैर्घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्यैः उदित उक्तः। स एषाऽऽकाशसमः पर आत्मा। अथवा घटाकाशैर्यथाऽऽकाश उदित उत्पन्नस्तथा परो जीवात्मभिरुत्पन्नो

होता हुआ भी जिस प्रकार उत्पन्न नहीं होता और इसीलिए सभी ओर से अजन्मा ब्रह्म ही रहता है। उस प्रकार को तो सुनो, मैं बतलाता हूँ। यह इसका तात्पर्य है ॥ २ ॥

जीव की उत्पत्ति में दृष्टान्त

दीन भाव से शून्य अजन्मा ब्रह्म को मैं बतलाऊँगा ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी सिद्धि के लिए आगे हेतु एवं दृष्टान्त बतलाऊँगा इस आशय से कहते हैं। क्योंकि परमात्मा आकाश के समान सूक्ष्म निरवयव और सर्वव्यापक कहा गया है। वह महाकाश से घटाकाश की भांति क्षेत्रज्ञ जीव रूप से उत्पन्न हुआ कहा गया है। अतः वह परमात्मा ही आकाश के समान माना गया है। अथवा

जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते वेदान्तेषु सा महाकाशाद्घटाकाशोत्पत्तिसमा न परमार्थत इत्यभिप्रायः। तस्मादेवाऽऽकाशाद्घटादयः संघाता यथोत्पद्यन्त एवमाकाशस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसंघाता आध्यात्मिकाश्च कार्यकारणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते। अत उच्यते घटादिवच्च संघातैरुदित इति। यदा मन्दबुद्धिप्रतिपिपादयिषया श्रुत्याऽऽत्मनो जातिरुच्यते जीवादीनां तदा जातावुपगम्यमानायामेतन्निदर्शनं दृष्टान्तो यथोदिताकाशवदित्यादि ॥ ३ ॥

जैसे घटाकाश के रूप में महाकाश उत्पन्नहोता है, वैसे ही जीवात्मा के रूप में परमात्मा ही उत्पन्न होता है। भाव यह कि है श्रुतियों में परमात्मा से जीवात्माओं की उत्पत्ति जो सुनी जाती है वह महाकाश से घटाकाश की उत्पत्ति के समान ही है, परमार्थतः नहीं। उसी महाकाश जैसे घटादि संघात उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही महाकाश स्थानीय परमात्मा से रज्जु सर्प की भांति पृथिव्यादि भूतसंघात और शरीर इन्द्रियादि रूप आध्यात्मिक कल्पित पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसीलिए घटादि के समान देहादि संघात रूप से उत्पन्न होना कहा गया है। जब मन्दबुद्धि पुरुषों के लिए प्रतिपादन करने की इच्छा से श्रुति ने जीवात्मा की उत्पत्ति कही है, तब उनकी उत्पत्ति मानने में यह पूर्वोक्त आकाशादि के समान ही दृष्टान्त समझना चाहिये। परमात्मा से जीव उत्पत्ति में अन्य दृष्टान्त का आश्रय लेने पर अपसिद्धान्त होने लग जायगा ॥ ३ ॥

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहाऽऽत्मनि ॥४॥
यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥५॥

[जैसे घटादि के नष्ट होने पर घटाकाशादि महाकाश में लीन हो जाते हैं, वैसे ही देहादि संघात के लय होने पर जीव इसी आत्मा में लीन हो जाते हैं ॥४॥]

[जैसे एक घटाकाश के धूलि धूमादि से युक्त होने पर सभी घटाकाश उनसे संयुक्त नहीं होते, वैसे (एक जीव के सुखादिमान् होने पर) सभी जीव सुखादियुक्त नहीं होते ॥५॥]

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्तिः । यथा च घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वद्देहादिसंघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहाऽऽत्मनि प्रलयो न स्वतः इत्यर्थः ॥४॥

सर्वदेहेष्वात्मैकत्व एकस्मिञ्जननमरणसुखादिमत्यात्मनि सर्वा-

जीव के विलय में दृष्टान्त

जैसे घटादि रूप उपाधि की उत्पत्ति से घटाकाश की उत्पत्ति मानी है और घटादि के नाश से घटाकाशादि का नाश माना है। वैसे ही देहादि संघात की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति और उनके नाश से इस अपरोक्ष आत्मा में विलय माना गया है। स्वरूप से महाकाश की भांति जीव की न उत्पत्ति होती है, और न नाश ही होता है ॥ ४ ॥

आत्मा असंग है

सभी देहों में एक आत्मा के होने पर तो एक आत्मा के जन्म मरण सुखादिमान् होने पर सभी संघातों में विद्यमान आत्मा को

त्मनां तत्संबन्धः क्रियाफलसांकर्यं च स्यादिति य आहुर्द्वैतिनस्तान्प्र-
तीदमुच्यते। यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभियुते संयुक्ते न सर्वे
घटाकाशादयस्तद्रजोधूमादिभिः संयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।

नन्वेक एवाऽऽत्मा। बाढम्। ननु न श्रुतं त्वयाऽऽकाशवत्सर्व-
संघातेष्वेक एवाऽऽत्मेति। यद्येक एवाऽऽत्मा तर्हि सर्वत्र सुखी दुःखी
च स्यात्। न चेदं सांख्यचोद्यं संभवति। न हि सांख्य आत्मनः
सुखदुःखादिमत्त्वमिच्छति। बुद्धिसमवायाभ्युपगमात्सुखदुःखादी-
नाम्। न चोपलब्धिस्वरूपस्याऽऽत्मनो भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति।
भेदाभावे प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तिरिति चेत्। न। प्रधानकृतस्यार्थ-
स्याऽऽत्मन्यसमवायात्। यदि हि प्रधानकृतो बन्धो मोक्षो वाऽर्थः
पुरुषेषु भेदेषु समवैति ततः प्रधानस्य पारार्थ्यमात्मैकत्वे नोपपद्यत
इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना। न च सांख्यैर्बन्धो मोक्षो वाऽर्थः पुरुष-
समवेतोऽभ्युपगम्यते। निर्विशेषाश्च चेतनमात्रा आत्मानोऽभ्युपग-
म्यन्ते। अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु
पुरुषभेदप्रयुक्तमिति।

जन्ममरणादि के साथ सम्बन्ध होने लग जायगा और ऐसा जिस
द्वैतवादी ने कहा है उनके प्रति अब कहते हैं—

जैसे एक घटाकाश के धूलि-धूमादि से संयुक्त होने पर सभी
घटाकाश उस धूलि-धूमादि से युक्त नहीं होते। ठीक इसी प्रकार
सुखादि से एक जीव के युक्त होने पर भी आप सभी जीव उन
सुखादिकों से लिप्त नहीं होते।

पूर्वपक्ष—आत्मा तो एक ही है फिर आत्मभेद मानकर आप
कैसे समाधान दे रहे हो?

सिद्धान्त—यह बात ठीक है। क्या आप ने यह नहीं सुना कि
सभी संघातों में आकाश के समान व्यापक आत्मा एक ही है?

अतः पुरुषभेदकल्पनायां न प्रधानस्य पारार्थ्यं हेतुः। न चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति सांख्यानाम्। परसत्तामात्रमेव चैतन्निमित्तीकृत्य स्वयं बध्यते च प्रधानम्। परश्चोपलब्धिमात्रसत्तास्वरूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुर्न केनचिद्विशेषेणेति केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पना भेदार्थपरित्यागश्च। ये त्वाहुर्वैशेषिकादय इच्छादय आत्मसमवायिन इति। तदप्यसत्। स्मृतिहेतूनां संस्काराणामप्रदेशवत्यात्मन्यसमवायात्।

पूर्वपक्ष—यदि आत्मा एक ही है तो सभी संघातों में स्थित उस एक आत्मा को सुखी दुःखी होना चाहिये।

सिद्धान्त—सांख्यों की यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि वह आत्मा में सुखदुःखादि स्वीकार नहीं करता। सुखदुःखादि तो बुद्धि में माने गये हैं, वे आत्मा के धर्म नहीं। इसके अतिरिक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा में भेद कल्पना में कोई प्रमाण भी नहीं है।

यदि कहो कि आत्मा में भेद न रहने पर प्रधान की परार्थता सिद्ध नहीं होगी, तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रधान द्वारा सम्पादित प्रयोजन का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रधानकृत बन्ध या मोक्ष पुरुष में पृथक् पृथक् समवेत होते हैं, तो आत्मा के एकत्व मान लेने पर प्रधान की परार्थता युक्तिसंगत नहीं हो सकती और ऐसी स्थिति में पुरुषनानात्व कल्पना ठीक ही मानी जायगी। पर सांख्यों ने बन्ध या मोक्ष पुरुष में माना नहीं वे आत्मा को निर्विशेष, असंग, चेतन मात्र ही मानते हैं। अतः प्रधान में परार्थता पुरुष सत्तामात्र से प्रयुक्त ही सिद्ध हैं, न कि पुरुष भेद प्रयुक्त। अतः पुरुषों में भेद कल्पना करने पर प्रधान की परार्थता में कोई हेतु नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त पुरुष भेद कल्पना में सांख्यों के पास कोई प्रमाण भी नहीं है। आत्मा की सत्तामात्र को

आत्मनः संयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः स्मृतिनियमानुपपत्तिः। युगपद्वा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः। न च भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानामात्मनां मन आदिभिः संबन्धो युक्तः। न च द्रव्याद्रूपादयो गुणाः कर्म-सामान्यविशेषसमवाया वा भिन्नाः सन्ति परेषाम्। यदि ह्यत्यन्त-भिन्ना एव द्रव्यात्स्युरिच्छादयश्चाऽऽत्मनस्तथा च सति द्रव्येण तेषां संबन्धानुपपत्तिः। अयुतसिद्धानां समवायलक्षणः संबन्धो न विरुध्यत इति चेत्। न। इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्ध-

---

निमित्त बनाकर यह स्वयं प्रधान ही बँधता है और मुक्त भी होता है। प्रधान की प्रवृत्ति में ज्ञान मात्र सत्ता स्वरूप से ही पुरुष हेतु माना गया है अन्य किसी विशेष के कारण नहीं। अतः केवल मूढ़ता के कारण ही पुरुष भेद की कल्पना सांख्यों ने की है और वेदार्थ का परित्याग किया है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक आदि मतवादियों ने जो कहा है, कि इच्छादि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, ऐसा उनका कहना सर्वथा असंगत है। स्मृति के असाधारण कारण संस्कारों का निरवयव आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। आत्मा और मन के संयोग मात्र से स्मृति की उत्पत्ति मानने पर तो स्मृति नियम की सिद्धि न हो सकेगी, और एक साथ सभी स्मृतियों की उत्पत्ति का प्रसंग भी आ जायगा। अतः स्मृति के प्रति संस्कार को असाधारण कारण मानना ही पड़ेगा। जिसका निरवयव आत्मा में समवाय सम्बन्ध मानना असं-भव है। इसके अतिरिक्त स्पर्शादि-हीन भिन्न-भिन्न प्रकार वाले आत्माओं का मन आदि के साथ सम्बन्ध मानना युक्ति संगत भी

त्वान्नायुतसिद्धत्वोपपत्तिः। आत्मनाऽयुतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्मगतमहत्त्ववन्नित्यत्वप्रसङ्गः। स चानिष्टः आत्मनोऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्।

समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण संबन्धान्तरं वाच्यं यथा द्रव्यगुणयोः। समवायो नित्यसंबन्ध एवेति न वाच्यमिति चेत्तथा च समवायसंबन्धवतां नित्यसंबन्धप्रसङ्गात्पृथक्त्वानुपपत्तिः। अत्यन्तपृथक्त्वे च द्रव्यादीनां स्पर्शवदस्पर्शद्रव्ययोरिव षष्ठ्यर्थानुपपत्तिः। इच्छाद्युपजनापायवद्गुणवत्त्वे चाऽऽत्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः। देहफलादिवत्सावयवत्वं विक्रियावत्त्वं च देहादिवदे-

---

नहीं है। द्रव्य से रूपादि गुण कर्म सामान्य विशेष या समवाय अन्य मतावलम्बियों की दृष्टि में भिन्न नहीं है। यदि वेदान्तियों के मत में इच्छादि आत्मरूप द्रव्य से अत्यन्त भिन्न ही हों, तो फिर उस द्रव्य के साथ उन इच्छादि का सम्बन्ध सिद्ध न हो सकेगा।

यदि कहो कि अयुतसिद्ध पदार्थों का समवाय सिद्ध मानने में कोई विरोध नहीं है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अनित्य इच्छादि से नित्य आत्मा पहले से ही सिद्ध है। अतः इनका अयुत सिद्धत्व सर्वथा सम्भव नहीं है। यदि इच्छादि आत्मा के साथ अयुतसिद्ध हैं, तो आत्मा में, जैसे समवाय सम्बन्ध से रहने वाला परम महत् परिमाण नित्य है, वैसे ही उसी समवाय सम्बन्ध से रहने वाले इच्छादि भी नित्य होने लग जायंगे, जो कि इष्ट नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा में मोक्षाभाव का प्रसंग आ जायगा।

यदि समवाय सम्बन्ध अपने समवायी द्रव्य से भिन्न है, तो उसके द्रव्य के साथ सम्बन्ध मानने में अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी

वेति दोषावपरिहार्यौ। यथा त्वाकाशस्याविद्याध्यारोपितरजोधूममलवत्त्वादिदोषवत्त्वं तथाऽऽत्मनोऽविद्याध्यारोपितबुद्ध्याद्युपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वे बन्धमोक्षादयो व्यावहारिका न विरुध्यन्ते। सर्ववादिभिरविद्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात्परमार्थानभ्युपगमाच्च। तस्मादात्मभेदपरिकल्पना वृथैव तार्किकैः क्रियत इति ॥ ५ ॥

पड़ेगी। जैसे द्रव्य से भिन्न गुण द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, ऐसे ही द्रव्य से भिन्न समवाय सम्बन्ध को भी किसी न किसी सम्बन्ध से ही रहना चाहिए। यदि कहो कि समवाय नित्य सम्बन्ध स्वरूप ही है, अतः द्रव्य में समवाय को रहने के लिए किसी सम्बन्ध को मानने की आवश्यकता नहीं। तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्था में समवाय सम्बन्ध वालों का सम्बन्ध नित्य होने के कारण उनकी पृथकूता सिद्ध न हो सकेगी। इसके अतिरिक्त द्रव्यादि को परस्पर अत्यन्त भिन्न मानोगे, तो जैसेस्पर्शवान् और अस्पर्शशून्य द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही उनके सम्बन्ध की भी युक्तिपूर्वकसिद्धि न हो सकेगी। और कदाचित् इच्छादि उत्पत्ति-विनाशशील गुणों वाला आत्मा को मानोगे तो आत्मा अनित्य होने लग जायगी।

देह और फलादि के समान आत्मा को सावयव और विकारी मानने पर तो उन दोनों दोषों का परिहार न हो सकेगा। जैसे आकाश का अविद्याकल्पित धूलिधूममलवत्वादि दोषवत्ता है, वैसे ही आत्मा में अविद्या से कल्पित बुद्ध्यादि उपाधि के कारण सुखदुःखादि दोष हैं। ऐसी स्थिति बन्ध में

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥६॥

[जैसे आकाश में घटमठादि उपाधियों के कारण जहाँ तहाँ अल्पत्वादि रूप जलानयनादि कार्य और उनके घटाकाशादि नामों में भेद हो जाता है, फिर भी आकाश में कोई भेद नहीं होता, वैसे ही जीवों के सम्बन्ध में निर्णय समझना चाहिये ॥ ६ ॥]

कथं पुनरात्मभेदनिमित्त इव व्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यविद्याकृत उपपद्यत इति। उच्यते। यथेहाऽऽकाश एकस्मिन्घटकरकापवरकाद्याकाशानामल्पत्वमहत्त्वादिरूपाणि भिद्यन्ते तथा कार्यमुदकाहरणधारणशयनादिसमाख्याश्च घटाकाशकरकाकाश इत्याद्यास्तत्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते। तत्र तत्र वै व्यवहारविषय इत्यर्थः। सर्वोऽयमाकाशे

मोक्षादि व्यावहारिक मानने में कोई विरोध नहीं, क्योंकि सभी वादियों ने व्यवहार को अविद्याकृत माना है। पारमार्थिक नहीं माना है। आत्मा में मनुष्यत्व आदि धर्म जब कल्पित हैं तो तत्प्रयुक्त लौकिक वैदिक व्यवहार भी कल्पित ही माने जायेंगे इसी अभिप्राय से कहा गया कि सभी वादियों ने व्यवहार को अविद्याकृत माना है। अतः तार्किक जीव भेद की कल्पना व्यर्थ ही करते हैं ॥५॥

जीव भेद पारमार्थिक नहीं

पूर्वपक्ष—जो व्यवहार आत्मा को भिन्न-भिन्न मानने पर होता है वही व्यवहार भला एक ही आत्मा में अविद्या के कारण कैसे सम्भव होगा ?

सि०—इस पर कहते हैं। जैसे एक ही आकाश में घट कमण्डलु और मठादि अवच्छिन्न आकाशों के अल्पत्व-महत्वादि रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। एवं जहां तहां व्यवहार में उनके लिए जल लाना,

नाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवाऽऽत्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥७॥

[जैसे महाकाश का विकार या अवयव घटाकाश नहीं है, वैसे ही परमात्मा का विकार या अवयव किसी भी अवस्था में जीव नहीं है ॥ ७ ॥

रूपादिभेदकृतो व्यवहारो न परमार्थ एव। परमार्थतस्त्वाकाशस्य न भेदोऽस्ति। न चाऽऽकाशभेदनिमित्तो व्यवहारोऽस्त्यन्तरेण परोपाधिकृतं द्वारम्। यथैतत्तद्वद्देहो पाधिभेदकृतेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसुनिरूपणात्कृतो बुद्धिमद्भिर्निर्णयो निश्चय इत्यर्थः ॥६॥

ननु तत्र परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्यादिभेदव्यवहार इति। नैतदस्ति। यस्मात्परमार्थाकाशस्य घटाकाशो न विकारः। यथा सुवर्णस्य रुचकादिर्यथा वाऽपां फेनवुद्बुदहिमादिः। नाप्य-

---

जल धारण करना और शयन करना आदि कार्य तथा घटाकाश, करकाकाश, मठाकाशादि नाम भिन्न-भिन्न देखे गये हैं। आकाश में यह सभी व्यवहार रूपादि-भेद के कारण ही हैं, परमार्थतः नहीं; क्योंकि परमार्थ दृष्टि से आकाश में भेद निमित्तक व्यवहार अन्य उपाधि के कारण से ही है। उपाधि के विना आकाश में भेद होना सर्वथा असम्भव है। जैसा यह भेद औपाधिक है, वैसे ही देहादि उपाधि भेद के कारण ही घटाकार स्थानीय जीवात्मा में भेद माना है। ऐसा वुद्धिमानों ने निश्चय किया है। इससे यही सिद्ध हुआ कि घटाकाश के समान आत्मा में दीखने वाला भेद और तत्प्रयुक्त सभी व्यवहार औपाधिक हैं, पारमार्थिक नहीं ॥६॥

जीवात्मा निर्विकार और निरवयव है

पूर्वपक्ष—घटाकाशादि में रूपकार्यादि का भेद व्यवहार पारमार्थिक ही है ?

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः ॥८॥

[जैसे अविवेकियों की धूमादि मल के कारण आकाशमल युक्त प्रतीत होता है, वैसे ही अविवेकियों की दृष्टि में परमात्मा भी राग-द्वेषादि मल से मलिन प्रतीत होता है। (आत्मज्ञानियों की दृष्टि में नहीं) ॥ ८ ॥]

वयवो यथा वृक्षस्य शाखादिः । न तथाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा तथा नैवाऽऽत्मनः परस्य परमार्थसतो महाकाशस्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः सदासर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः । अत आत्मभेदकृतो व्यवहारो मृषैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदबुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादिभेदव्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवभेदकृतो जन्ममरणादिव्यवहारस्तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्वमात्मनो न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषन्नाह—यथा भवति लोके बालानामविवेकिनां

सिद्धान्तपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि पारमार्थिक आकाश का घटाकाश विकार नहीं है। जैसे सुवर्ण के विकाररुचकादि आभूषण और जैसे जल के विकार फेन बुद्बुदादि हैं, वैसे विकार घटाकाश मठाकाश का नहीं। और जैसे वृक्ष के शाखादि अवयव होते हैं,वैसे अवयव घटाकाश महाकाश के नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घटाकाश महाकाश के विकार या अवयव नहीं है, वैसे ही महाकाश स्थानीय परमार्थ सत्य परमात्मा का घटाकाश स्थानीय जीव किसी भी परिस्थिति में विकार या अवयव जरा भी नहीं है। इस विषय में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की समानता है। अतः आत्म भेद के कारण उत्पन्न हुआ व्यवहार आत्मा में मिथ्या ही है, पारमार्थिक नहीं ॥ ७ ॥

मरणे संभवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ॥ ९ ॥

[सभी शरीरों में आत्मा जन्म, मरण, गमन, आगमन और स्थितिकाल में घटाकाश के समान ही है, विलक्षण नहीं ॥ ९ ॥]

गगनमाकाशं घनरजो धूमादिमलैर्मलिनं मलवन्न गगनं मलवद्याथात्म्यविवेकिनाम् , तथा भवत्यात्मा परोऽपि यो विज्ञाता प्रत्यक्क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनोऽवुद्धानां प्रत्यगात्मविवेकरहितानां नाऽऽत्मविवेकवताम् । न ह्यूषरदेशस्तृड्वत्प्राण्यध्यारोपितो दकफेनतरङ्गादिमांस्तथा नाऽऽत्माऽवुधारोपितक्लेशादिमलैर्मलिनो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—घटाकाशजन्मनाशगमनागमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्वात्मनो जन्ममरणादिराकाशेनाविलक्षणः प्रत्येतव्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अविवेकियों के दृष्टि में ही आत्मा मलिन है

क्योंकि जैसे घटाकाशादि भेदबुद्धि के कारण रूपकार्यादि भेद व्यवहार है, वैसे ही देहरूप उपाधि से उपहित जीव भेद के कारण जन्म मरणादि व्यवहार है। अतएव आत्मा का विद्यादि क्लेश अशुभा-शुभ कर्म तत्फल रूप मल से युक्त होना भी औपाधिक ही है, पारमार्थिक नहीं। इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा बतलाने की इच्छा से कहते हैं।

लोक में जैसे अविवेकी पुरुषों की दृष्टि में आकाश, बादल, धूलि और धूमादिरूप मलों के कारण मलिन हो जाता है, आकाशतत्त्वदर्शी विवेकियों की दृष्टि में नहीं, वैसे ही परमात्मा जो विज्ञाता प्रत्यक् तथा सर्वसाक्षी है। वह प्रत्यगात्म विवेक से शून्य अज्ञानियों की दृष्टि में ही क्लेश, कर्म और फलरूप मल से मलिन हो जाता है, आत्म-ज्ञानियों की दृष्टि में नहीं। भाव यह है कि जैसे मरुभूमि

संघाताः स्वप्नवत्सर्वं आत्ममायाविसर्जिताः ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥१०॥

[सभी देहादि संघात स्वप्न में दीखने वाले देहादि के समान आत्मा की माया से ही रचे हुए हैं । स्वप्न की अपेक्षा जाग्रत् देहादि के उत्कर्ष या सबकी समानता में कोई युक्ति नहीं है ॥ १० ॥]

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसंघाताः स्वप्नदृश्यदेहादिवन्मायाविकृतदेहादिवच्चाऽऽत्ममायाविसर्जिता आत्मनो मायाऽविद्या तया प्रत्युपस्थापिता न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः यद्याधिक्यमधिकभावस्तिर्यग्देहाद्यपेक्षया देवादिकार्यकारणसंघातानां यदि वा सर्वेषां समतैव नैषामुपपत्तिः संभवः सद्भावप्रतिपादको हेतुर्विद्यते । नास्ति हि यस्मात्तस्मादविद्याकृता एव न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ॥१०॥

प्यासे प्राणी के द्वारा कल्पना किये गये फेन-तरङ्गादि के कारण उनसे युक्त नहीं होती वैसे ही आत्मा भी अज्ञानियों द्वारा कल्पित उक्त क्लेशादि मलों से मलिन नहीं होती ॥८॥

फिर भी पूर्वोक्त अर्थ को ही विस्तार से बतलाते हैं । घटाकाश के जन्म, नाश, आगमन और स्थिति जिस प्रकार है, उसी प्रकार आत्मा के जन्म मरणादि भी हैं । अर्थात् जन्म-मरणादि व्यवहार से सर्वथा विलक्षण के समान आत्मा को समझना चाहिए ॥९॥

घटादि स्थानीय देहादि संघात स्वप्न में दीखने वाले देहादि के समान मायावी के रचे गये देहादि के समान ही आत्मदेव की माया से बनाये गये हैं । आत्मा की माया अविद्या है । उसी अविद्या के कारण देहादि-संघात खड़े किये गये हैं, परमार्थ दृष्टि से ये नहीं है । यदि तिर्यग् आदि देहों की अपेक्षा से देवतादिक के कार्य करण संघात में कुछ अधिकता दीखती हो, या यदि परमार्थ दृष्टि से

रसाद्यो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥ ११ ॥

[तैत्तिरीयक शाखोपनिषद् में अन्नरसमयादि कोशों की स्पष्ट विवेचना की गई है। आकाश के समान परमात्मा ही उनके अन्तरतम जीव रूप से बतलाया गया है ॥ ११ ॥]

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्याऽऽत्मतत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान्युपन्यस्यन्ते। रसादयोऽन्नरसमयः प्राणमयः इत्येवमादयः कोशा इव कोशा अस्याऽऽदेरिवोत्तरोत्तरस्यापेक्षयाबहिर्भावात्पूर्वपूर्वस्य व्याख्याता विस्पष्टमाख्यातास्तैत्तिरीयके तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्ल्यां तेषां कोशानामात्मा येनाऽऽत्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन। स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः। कोऽसावित्याह—पर एवाऽऽत्मा यः पूर्वम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१) इति प्रकृतः। यस्मादात्मनः स्वप्नमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः कोशलक्षणाः संघाता आत्ममायाविसर्जिता इत्युक्तम्। स आत्माऽस्माभिर्यथा खं तथेति संप्रकाशित आत्मा ह्याकाशवदि (अद्वैत न० ३) त्यादि श्लोकैः। न तार्किकपरिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

सबमें समानता ही प्रतीत होती हो, तो भी इनकी सत्ता का प्रतिपादक कोई तर्कपूर्ण हेतु नहीं है। जबकि ऐसी बात है, इसलिए वे देहादि संघात अविद्याकृत ही हैं, परमार्थतः नहीं। यही इसका भाव है ॥१०॥

उत्पत्ति आदि से रहित अद्वितीय आत्मतत्व के श्रुति प्रमाणकत्व दिखलाने के लिये कुछ श्रुति वाक्यों का उल्लेख आगे की कारिका में करते हैं। अन्न-रसमय एवं प्राणमय इत्यादि कोशों की व्याख्या तैत्तिरीय शाखोपनिषद् की वल्ली में स्वष्टरूप से की गई है। वे कोश

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाऽऽकाशः प्रकाशितः ॥१२॥

[लोक में जैसे ही पृथिवी और उदर में एक ही आकाश अनुमान से बतलाया गया है, वैसे ही बृहदारण्योक्त मधुब्राह्मण के (अध्यात्म और अधिदैव इन) दोनों स्थलों में एक ही ब्रह्मप्रकाशित किया गया है ॥ १२ ॥]

किंचाधिदैवमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः पृथिव्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवाऽऽत्मा ब्रह्म सर्वमिति द्वयोर्द्वयोरा द्वैतक्षयात्परं ब्रह्म प्रकाशितम् । क्वेत्याह—ब्रह्मविद्याख्यं मध्वमृतममृतत्वं मोदनहेतुत्वाद्विज्ञायते यस्मिन्निति मधुज्ञानं मधुब्राह्मणं तस्मिन्निन्त्यर्थः । किमिवेत्याह—पृथिव्यामुदरे चैव यथैक आकाशोऽनुमानेन प्रकाशितो लोके तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥

तलवार के कोश के समान ही आत्मा को ढकने वाला होने के कारण उत्तर उत्तर की अपेक्षा पूर्व पूर्व कोश में बहिर्भाव है; ऐसा दिखलाया गया है। उन कोशों का जो आत्मा है, जिस अन्तर्तम आत्मा से ये पांचो कोश आत्मवान् हो रहे हैं, वही एकमात्र सबके जीवन का निमित्त होने के कारण जीव कहा गया है। आखिर वह है कौन ? इस पर कहते हैं कि वह परमात्मा ही है जिसका पहले 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य से प्रसंग प्रारम्भ किया गया था, और जिस आत्मा से स्वप्न एवं मायादि की भाँति आकाशादि क्रम से कोश रूप अन्नमयादिमय संघात रचे गये हैं, उसमें भी आत्मा की माया से ही उनकी रचना हुई थी, ऐसा तैत्तिरीयक में कहा गया है। इस आत्मा को हमने भी "आत्मा आकाश के समान है" इत्यादि कारिकाओं में जैसा आकाश है, वैसा ही व्यापक बतलाया गया है। हमने तार्किकों से परिकल्पित आत्मा के समान पुरुष बुद्धि रूप

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥१३॥

[क्योंकि श्रुति युक्ति से जीव और परमात्मा के एकत्व की एक स्वर से प्रशंसा की गई है और शास्त्रबाह्य नानात्व की निन्दा भी की गई है। अतः एकत्व ही श्रुति एवं न्याय संगत सिद्धान्त है ॥१३॥]

यद्युक्तितः श्रुतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चाऽऽत्मनो जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च। यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रबहिष्कृतैः कुतार्किकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते "न तु तद्द्वितीयमस्ति (बृ० ४।३।२३)" "द्वितीयाद्वै भयं भवति (बृ० १।४।२)" "उदर मन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति (तै० २।७।१)" "इदं सर्वं यदयमात्मा (बृ० २।४।६, ४।५।७)" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इव नानेव पश्यति

प्रमाणगम्य परमात्मा को नहीं कहा, यह इसका अभिप्राय है। वैसे ही अधिद्वैत और अध्यात्म भेद से तेजोमय अमृतमय पुरुष पृथिव्यादि के भीतर जो बतलाया गया है, वह विज्ञाता परब्रह्म परमात्मा ही ब्रह्म सब कुछ है इस प्रकार सम्पूर्ण द्वैत के विलय पर्यन्त अध्यात्म अधिदैव दोनों स्थलों में परब्रह्म ही बतलाया गया है। किस स्थल में उक्त उपदेश किया गया है? इस पर कहते हैं—कि जिस प्रसंग में ब्रह्मविद्यानामक मधु अर्थात् अमृत का ज्ञान जो कि आनन्द के हेतु रूप से जाना गया है उसी में मधुज्ञान अर्थात् मधु ब्राह्मण बतलाया गया है। क्या बतलाया गया है? क्या और किस की भांति बतलाया गया है। इस पर कहते हैं कि जैसे लोक में पृथ्वी और उदर के भीतर अनुमान द्वारा एक ही आकाश जाना गया है। वैसे ही श्रुति और युक्ति से अध्यात्म, अधिदैव दोनों स्थल में एक ही आत्मतत्व प्रकाशित किया गया है। यह इसका तात्पर्य है ॥ १२ ॥

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्।
भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥१४॥

[उत्पत्तिबोधक श्रुतिवाक्यों से पहले कर्मकाण्ड में जीव और परमात्मा का पृथक्त्व कहा गया है, वह भविष्यद्वृत्ति से गौण है, उसे मुख्यार्थ मानना उचित नहीं है ॥१४॥]

(क० २।१।१०)" इत्यादिवाक्यैश्चान्यैश्च ब्रह्मविद्भिः। यच्चैसत्तदेवं हि समञ्जसमृज्ववबोधं न्याय्यमित्यर्थः। यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयस्ता अनृज्व्यो निरूप्यमाणा न घटनां प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः ॥१३॥

ननु श्रुत्याऽपि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेरुत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वं प्रकीर्तितं कर्मकाण्डे। अनेकशः कामभेदत इदं-

---

आत्म-एकत्व ही युक्ति संगत है।

जीवात्मा परमात्मा के जिस एकत्व का निश्चय श्रुति और युक्ति से किया गया है, उसी एकत्व की प्रशंसा एकस्वर से शास्त्र और व्यासादि ऋषियों ने भी की है। इसके विपरीत शास्त्र वहिष्कृत कुतार्किकों से रचित सर्वप्राणी साधारण स्वाभाविक जो नानात्व दर्शन है, उसकी निन्दा 'उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है' 'निःसन्देह दूसरे से भय होता है' जो थोड़ा भी भेद करता है, उसे अवश्य भय होता है', "यह जो कुछ भी नामरूप है, सब आत्मा ही है" यहाँ जो नाना की भाँति देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुति वाक्यों से तथा अन्य ब्रह्म ज्ञानियों द्वारा बार-बार निन्दा की गई है। यह जो एकत्व हमने बतलाया, वह इसी प्रकार सरल रूप से बोधगम्य यानी न्याय संगत हो सकता है एवं तार्किकों से परिकल्पित जो कुदृष्टियाँ हैं, वे सरल भी नहीं हैं और निरूपण किये जाने पर प्रसंगानुरूप नहीं घटते। तात्पर्य यह इसका है ॥ १३

कामोऽदःकाम इति। परश्च 'सदाधार पृथिवीं द्याम्' (ऋ० सं० १०।१२१।१ इत्यादिमन्त्रवर्णः। तत्र कथं कर्मज्ञानकाण्डवाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैवैकत्वस्य सामञ्जस्यमवधार्यत इति। अत्रोच्यते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।१) 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' (बृ० २।१।२०)। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।२)। 'तदैक्षत' (छा० ६।२।३)। 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्याद्युत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः प्राक्पृथक्त्वं कर्मकाण्डे प्रकीर्तितं यत्तन्न परमार्थम्। किं तर्हि गौणम्। महाकाशघटाकाशादिभेदवत्। यथौदनं पचतीति भविष्यद्वृत्त्या तद्वत्। न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्यभेदार्थत्वमुपपद्यते। स्वाभाविकाविद्यावत्प्राणिभेददृष्ट्यनुवादित्वादात्मभेदवाक्यानाम्। इह चोपनिषत्सूत्पत्तिप्रलयादिवाक्यैर्जीवपरमात्मनोरेकत्वमेव प्रतिपिपादयिषितम्। 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।१६) 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न

जीव ब्रह्म का भेद श्रुति गौण रूप से कहा गया है।

पूर्वपक्ष—जब श्रुति ने भी जीवात्मा परमात्मा का पृथक् तत्त्व बोध से पहले कर्मकाण्ड में सृष्टिबोधक उपनिषद् वाक्यों द्वारा "इदं कामः, अदः कामः" इत्यादि प्रकार से अनेकों कामनाओं के भेद से जीवात्मा परमात्मा का भेद कहा है। क्योंकि कामनाओं के भेद से कर्म का भेद होता है, और कर्म के भेद से, उसके अधिकारी पुरुष का भेद हो जाता है। कर्मकाण्ड में बतलाये गये यह भेद जीवात्म परमात्म एकत्व मानने पर असंगत हो जायगा। ऐसे ही जीव से पृथक् परमात्मा का 'उस परमेश्वर ने पृथ्वी और द्युलोक को धारण किया' इत्यादि मन्त्रवर्णों से पृथक् बोध कराया गया है। ऐसी परिस्थिति में जो कर्म और ज्ञान काण्ड के वाक्यों का विरोध जब स्पष्ट दीखता है, तो केवल ज्ञान काण्ड के वाक्यों में कहे गये एकत्व की युक्ति-युक्तता कैसे निश्चित की जा सकती है। क्या ज्ञानकाण्डोक्त

स वेद (बृ० १।४।१०) इत्यादिभिः। अत उपनिषत्स्वेकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भाविनी मेकवृत्तिमाश्रित्य लोके भेददृष्ट्यनुवादो गौण एवेत्यभिप्रायः। अथवा 'तदैक्षत' (छा० ६।२।३) 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्याद्युत्पत्तेः प्राक् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।२) इत्येकत्वं प्रकीर्तितम। तदेव च 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (६।८।१६) इत्येकत्वं भविष्यतीति तां भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र क्वचिद्वाक्ये गम्यमानं तद्गौणम। यथौदनं पचतीति तद्वत ॥१४॥

अर्थ ही वेदार्थ है, और कर्मकाण्डोक्त अर्थ वेदार्थ नहीं? दोनों में प्रामाण्य समान रूप से रहने पर एक काण्ड का आलम्बन कर सिद्धान्त स्थापित करना उचित नहीं है।

सिद्धान्त—इस पर कहते हैं। 'जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं', 'जैसे अग्नि से छोटी २ चिनकारियां निकलती हैं', 'उसी इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ', 'उसने ईक्षण किया', 'उसने तेज की सृष्टि की' इत्यादि सृष्टिबोधक उपनिषद्वाक्यों से पहले कर्म काण्ड में जो पृथक्त्व कहा गया है, वह पारमार्थिक नहीं है। तो फिर क्या है? वह तो महाकाश से घटाकाशादि के भेद के समान गौण है। जैसे 'भविष्य में भात पकेगा' इस भविष्यत् वृत्ति के कारण वर्तमान काल में भी भात पकता है, ऐसा लोक व्यवहार होते देखा गया है। उसी के समान कर्मकाण्डशास्त्रोक्त भेद को भी समझना चाहिए, अर्थात आगे सृष्टि-श्रुति से महाकाश घटाकाशादि भेद के समान जो भेद प्रतिभासित होगा, उसी औपाधिक भेद को कर्मकाण्ड वाक्यों से कहा गया है। अतः कर्मकाण्डोक्त भेद के गौण ही है। आत्मभेद वाक्यों का मुख्य भेद बोधकत्व कभी भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आत्मभेद बोधक वाक्य स्वाभाविक अज्ञानी प्राणी की भेद दृष्टि का अनुवाद मात्र करते हैं।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥१५॥

[(उपनिषद् वाक्यों में) जो मृत्तिका, लोहपिण्ड तथा विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों से भिन्न भिन्न प्रकार की सृष्टि बतलायी गयी है वह तो केवल ब्रह्मात्म में बुद्धि के प्रवेश के लिए उपाय मात्र है। उससे किसी प्रकार का भेद सिद्ध नहीं होता ॥१५॥]

ननु यदुत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवाद्वितीयं तथाऽप्युत्पत्तेरूर्ध्वं

वहां उपनिषदों में उत्पत्ति प्रलयादि बोधक वाक्यों से जीव ब्रह्म का एकत्व ही बतलाना ही इष्ट है। ऐसे ही 'तू वह है, वह धन्य है, 'मैं अन्य हूँ ऐसा समझने वाला वस्तुतः नहीं जानता है, इत्यादि श्रुतियों से जीव ब्रह्मका एकत्व ही कहा गया है। अतः उपनिषदों में श्रुति द्वारा एकत्व बतलाना ही अभीष्ट होगा। इसी भावी अभेद दृष्टि का आश्रय लेकर लौकिक सिद्ध भेद दृष्टि का अनुवाद गौण ही माना जायगा, यह इसका भावार्थ है। अथवा 'उसने ईक्षण किया', 'उसने तेज को बनाया' इत्यादि श्रुतियों द्वारा उत्पत्ति से पूर्व जो' एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्य से एकत्व बतलाया गया है। 'वह सत्य है वह आत्मा है और वही तुम हो' इस प्रकार आगे एकत्व बतलाया जायगा, इसी भविष्यद् वृत्ति एकत्व की अपेक्षा करके जो जीवात्मा परमात्मा का पृथक्त्व जहां कहीं जाना गया है, वह गौण वैसे ही है, जैसे 'ओदनं पचति' यह प्रयोग तण्डुल पकाने के लिए किया जाता है ॥१४॥

उत्पत्ति श्रुति में दृष्टान्त का तात्पर्य

पूर्वपक्ष—यदि कहो कि उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण जगत् अजन्मा तथा एक अद्वितीय था किन्तु उत्पत्ति के बाद उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण जगत् और जीव तो भिन्न २ ही है?

जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना इति। नैवम्। अन्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम्। पूर्वमपि परिहृत एवायं दोषः। स्वप्नवदात्ममायाविसर्जिताः संघाता घटाकाशोत्पत्तिभेदादिवज्जीवानामुत्पत्तिभेदादिरिति। इत एवोत्पत्तिभेदादिश्रुतिभ्य आकृष्येह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामैदंपर्यप्रतिपिपादयिषयोपन्यासः। मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशिताऽन्यथाऽन्यथा च स सर्वः सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम्। यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पता प्राण वैशिष्ट्यबोधावताराय तदप्यसिद्धमिति चेत्। न। शाखाभेदेष्वन्यथाऽन्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात्। यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यद्विरुद्धानेकप्रकारेण ना श्रोष्यत्। श्रूयते तु। तस्मान्न तादर्थ्यं संवादश्रुतीनाम्। तथोत्पत्तिवाक्यानि प्रत्येतव्यानि। कल्प-

---

सिद्धान्त—तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि उत्पत्ति श्रुति का प्रयोजन कुछ अन्य ही है। इसका परिहास हम पहले भी कर आये हैं कि स्वप्न के समान आत्मा की माया से रचित देहादि संघात है, एवं घटाकाश उत्पत्ति भेदादि के समान जीवात्माओं की उत्पत्ति भेद है। यद्यपि पहले इसका समाधान दिया जा चुका है, तथापि उत्पत्ति भेदादि बोधक श्रुतियों से निष्कर्ष लेकर पुनः यहाँ उत्पत्यादि श्रुतियों का जीव परमात्म एकत्व बतलाने की इच्छा से उपन्यास किया जा रहा है। मृत्तिका, लोह-पिण्ड विस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्त उपन्यास करके जो भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि कही गयी है वह सभी सृष्टि प्रकार हमें जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व बोध के लिए उपाय मात्र है। जैसे प्राण संवाद में वाणी आदि इन्द्रियों का असुरों द्वारा पाप से विद्ध हो जाने वाली आख्यायिका की कल्पना केवल प्राण के वैशिष्ट्य बोध कराने के लिए की गई है, न कि सच में इस प्रकार का संवाद हुआ ही होगा।

सर्गभेदात्संवादश्रुतीना मुत्पत्तिश्रुतीनां च प्रतिसर्गमन्यथात्वमिति चेन्न। निष्प्रयोजनत्वाद्यथोक्तबुद्ध्यवतारप्रयोजनव्यतिरेकेण। न ह्यन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादोत्पत्तिश्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम्। तथात्व-प्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेन्न। कलहोत्पत्तिप्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्ट-त्वात् तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः। अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथंचन ॥१५॥

पूर्वपक्ष—किन्तु उन आख्यानों का तात्पर्य प्राण की श्रेष्ठता बोध कराने में है, यह बात भी तो सिद्ध नहीं हो सकती।

सिद्धान्त—ऐसा नहीं कह सकते। भिन्न भिन्न शाखाओं में भिन्न २ प्रकार से प्राणादि सम्वाद का श्रवण होने के कारण उनका तात्पर्य प्राण वैशिष्ट्य बोधन में ही मानना पड़ेगा। यदि परमार्थतः प्राणों में परस्पर सम्वाद हुआ होता, तो सभी शाखाओं में समान ही सम्वाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध विभिन्न प्रकार से नहीं सुना जाता है। अतः प्राण सम्वाद सृष्टि बोधक श्रुति-वाक्यों को समझना चाहिए।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा माना जाय कि प्रति कल्प सृष्टि भेद के कारण प्राण सम्वाद श्रुति और उत्पत्ति श्रुतियों में प्रत्येक सर्ग में भेद है।

सिद्धान्त—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि जीवात्मा परमात्मा के एकत्व बोधक पूर्वोक्त श्रुतियों के एकत्व बोध में बुद्धि को अवतरण कराने रूप प्रयोजन से भिन्न उन श्रुतियों का भिन्न अर्थ में तात्पर्य नहीं है। प्राण संवाद एवं उत्पत्ति श्रुतियों का ब्रह्मात्मैक्य बोध कराने के सिवा अन्य प्रयोजन नहीं कर सकते। यदि कहो कि तद्-रूपता प्राप्ति के लिए ध्यानार्थ संवाद श्रुतियाँ कही गयी हैं, तो ऐसा करना ठीक नहीं। क्योंकि कलह, उत्पत्ति तथा प्रलय को प्राप्त करना

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥१६॥

[निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टि वाले तीन प्रकार के अधिकारी हैं। दयालु वेद ने अनुकम्पा करके मन्द और मध्यम दृष्टि वालों के लिये कर्म और उपासना का उपदेश किया है ॥१६॥]

यदि पर एवाऽऽत्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एकः परमार्थः सन् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽसदन्यत्किमर्थेयमुपासनोपदिष्टा। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१।३) 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१।१३)। 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि। शृणु तत्र कारणम्। आश्रमा आश्रमिणोऽधिकृताः। वर्णिनश्च मार्गगाः। आश्रमशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्त्रिविधः। कथम्। हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः। हीना निकृष्टा मध्यमोत्कृष्टा च दृष्टि-

---

किसी को भी इष्ट नहीं होता। अतः उत्पत्त्यादि बोधक श्रुतियाँ आत्मैकत्वबोध कराने के लिए ही है, किसी अन्य प्रयोजन के लिए उन्हें मानना उचित नहीं। इसीलिए उत्पत्त्यादि के कारण से होने वाला भेद किसी भी प्रकार पारमार्थिक सिद्ध नहीं हो सकता ॥१५॥

अधिकारी भेद से उपासना विधि में भेद

पूर्वपक्ष—'यदि एक ही अद्वितीय है' इत्यादि श्रुतियों से परमार्थतः नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव एक परमात्मा ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, तो भला अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य है", "जो आत्मा पाप रहित है", "वह अधिकृत पुरुष उपास्य सम्बन्धी संकल्प रूप क्रतु करे", "आत्मा है इस प्रकार से ही उपासना करे" इत्यादि श्रुतियों से इस उपासना का उपदेश क्यों किया गया और अग्नि होत्रादि कर्म भी क्यों कहे गये ?

दर्शनमसामर्थ्यं येषां ते मन्दमध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता इत्यर्थः। उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं कर्माणि च। न चाऽऽत्मैक एवाद्वितीय इति निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थं दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः सन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृष्टिं प्राप्नुयुरिति।

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ के० १।५

'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।१६) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः॥१६॥

सिद्धान्त—इसमें बतलाये गये कारणों को सुनो। कर्माधिकारी आश्रमी तथा सन्मार्गगामी वर्णी तीन प्रकार के हैं। श्लोक में आश्रम शब्द वर्णी बोध के लिए भी है। किस प्रकार त्रिधा अधिकारी हैं? हीन, मध्यम तथा उत्कृष्ट दृष्टि वाले, यानी जिनकी दृष्टि निकृष्ट, मध्यम और उत्तम बुद्धि सामर्थ्य से सम्पन्न माने गये हैं। उन मन्द, मध्यम दृष्टि वाले आश्रमादि के लिए इस उपासना और कर्म का उपदेश किया गया है, न कि आत्मा एक और अद्वितीय है, ऐसे दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान युक्त उत्तम दृष्टि वाले के लिए कर्म उपासना का उपदेश है।

दयालु वेद ने कृपा कर इसीलिए उनका उपदेश किया है कि जिस किसी प्रकार से ये बेचारे सन्मार्गगामी होकर इस उत्तम एकत्व दृष्टि को प्राप्त कर लेवें। 'जिनका मन से मनन नहीं किया जाता किन्तु जिसके द्वारा मन भी जाना जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान' 'जिस उपाधि परिच्छिन्न की उपासना करते हैं यह ब्रह्म ही है', "वह तू है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियों द्वारा उसी एकत्व सर्वोत्तम दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है॥१६॥

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं विरुध्यते ॥१७॥

[(कपिल आदि द्वैत वादी) स्वरचित सिद्धान्तों की व्याख्या में अनुरक्त एवं दृढ़ग्रही होने के कारण विरोध करते हैं । किन्तु यह (अद्वैतात्मदर्शन वैदिक सिद्धान्त सबसे अभिन्न होने के कारण) उनसे विरोध नहीं करता ॥१७॥

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वादद्वयात्मदर्शनं सम्यग्दर्शनं तद्-बाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत् । इतश्च मिथ्यादर्शनं द्वैतिनां रागद्-वेषादिदोषास्पदत्वात्कथं स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु स्वसिद्धान्तरचना-नियमेषु कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः । एवमेवैष परमार्थो नान्यथेति तत्र तत्रानुरक्ताः प्रतिपक्षं चाऽऽत्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्त इत्येवं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्त दर्शननिमित्त-मेव परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्ते । तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयोऽयं

अद्वैत आत्म दर्शन का किसी से विरोध नहीं ।

शास्त्र और युक्ति से अद्वितीय आत्मदशन ही यथार्थ दर्शन है, इसका निश्चय हो चुका है । साथ ही वेदबाह्य होने के कारण अद्वैत आत्मदर्शन से भिन्न सभी दर्शन मिथ्या है । इसलिए भी द्वैत-वादियों का दर्शन मिथ्या है क्योंकि वे रागद्वेषादि दोषों से भरे पड़े हैं । कैसे ? इस पर कहते हैं । अपने अपने सिद्धान्तों के रचना नियमों में कपिल, कणाद, बुद्ध और जैन की दृष्टियों का अनुसरण करने वाले द्वैतवादी निश्चय किये बैठे हैं । परमार्थ तत्त्व ऐसा ही है, इससे भिन्न नहीं । इस प्रकार उन उन सिद्धान्तों में अनुरक्त अपने विरोधी को देखकर उससे द्वेष करते हैं । इस प्रकार वे राग द्वेष से युक्त हो अपने अपने सिद्धान्त दर्शन के कारण ही परस्पर

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते ॥१८॥

[क्योंकि अद्वैतपरमार्थ है और द्वैत उसी का कल्पित भेद कहा जाता है। पर उन द्वैतवादियों की दृष्टि में तो (परमार्थतः और अपरमार्थतः) दोनों प्रकार से द्वैत ही है। ऐसी स्थिति में उनके साथ यह अद्वैत ही है। ऐसी स्थिति में उनके साथ यह अद्वैतात्म दर्शन विरोध नहीं करता है ॥१८॥]

वैदिकः सर्वानन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्त-पादादिभिः। एवं रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यभिप्रायः ॥१७॥

केन हेतुना तैर्न विरुध्यत इत्युच्यते। अद्वैतं परमार्थो हि यस्माद्-द्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेदस्तद्भेदस्तस्य कार्यमित्यर्थः। 'एकमेव

एक दूसरे से विरोध करते हैं। उन परस्पर विरोधियों के साथ भी हमारा यह वैदिक सिद्धान्त विरोध नहीं करता। क्योंकि यह आत्मैकत्व दर्शन पक्ष सबसे अभिन्न है। जैसे अपने हस्त-पादादि के साथ किसी का विरोध नहीं होता। इसीलिए हमने कहा कि इस प्रकार राग द्वेषादि दोषों का आश्रय न होने से आत्मैकत्व ज्ञान ही सम्यग् दर्शन है। द्वैतवादी परिकल्पित अन्यान्यदर्शन मिथ्या हैं ॥१७॥

उक्त सिद्धान्त में हेतु

किस कारण से अन्य दर्शनों के साथ इस अद्वैत आत्मदर्शन का विरोध नहीं है? इस पर कारण बतलाते हैं। अद्वैत पारमार्थिक है, क्योंकि द्वैत अर्थात् नानात्व उसी अद्वैत का कार्य है। ऐसा ही 'एकमेवाद्वितीयम्', 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियों से तथा

द्वितीयम्' (छा० ६।२।२)। 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति श्रुतेः। उपपत्तेश्च। स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्छायां सुषुप्तौ चाभावात्। अतस्तद्भेद उच्यते द्वैतम्। द्वैतिनां तु तेषां परमार्थतश्चापरमार्थतश्चोभयथाऽपि द्वैतमेव। यदि च तेषां भ्रान्तानां द्वैतदृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्तानाम्। तेनायं हेतुनाऽस्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० २।५।१९) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (बृ० ४।३।२३) इति श्रुतेः। यथा मत्तगजारूढ उन्मत्तं भूमिष्ठं प्रति गजारूढोऽहं वाहय मां प्रतीति ब्रुवाणमपि तं प्रति न वाहयत्यविरोधबुद्ध्या तद्वत्। ततः परमार्थतो ब्रह्मविदात्मैव द्वैतिनाम्। तेनायं हेतुनाऽस्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः ॥१८॥

मूर्च्छा और सुषुप्ति में अपने मनःस्पन्दन के अभाव हो जाने पर समाधि में भी द्वैत नहीं दीखता। ऐसी युक्ति से उक्त सिद्धान्त स्थिर हो जाता है। अतः द्वैत उस अद्वैत का विकल्प मात्र है। किन्तु उन द्वैतवादियों की दृष्टि में तो परमार्थता और अपरमार्थता दोनों प्रकार से द्वैत ही है। यदि उन भ्रान्त पुरुषों की द्वैतदृष्टि और हम भ्रान्तहीनों की अद्वैत दृष्टि है, इसी कारण से हमारे पक्ष का उनके पक्ष के साथ कोई विरोध नहीं। "परमेश्वर माया से अनेक रूप बना लेता है," "उससे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है" इत्यादि श्रुतियाँ उसी अद्वैत के विषय में प्रमाण हैं। जैसे मतवाले हाथी पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमिष्ठ उन्मत्त व्यक्ति के प्रति 'मैं तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी हाथी पर चढ़ा हुआ हूं मेरी ओर हाथी बढ़ा दो" ऐसा कहने पर भी उसकी ओर हाथी नहीं ले जाता, क्योंकि उसके साथ प्रथम का कोई विरोध नहीं है। ऐसे ही द्वैतवादियों के साथ हमारा कोई विरोध नहीं। क्योंकि परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी द्वैतवादियों की भी आत्मा ही है, बस इसी कारण से उनके साथ हमारे अद्वैतवाद पक्ष का विरोध नहीं है ॥१८॥

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥१६॥

इस परमार्थ सत् अजन्मा अद्वैत में रज्जू सर्पादिवत् माया से ही भेद दीखता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो स्वभाव से अमर होकर आत्मा मर्त्यभाव को प्राप्त होने लगेगा ॥१६॥]

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति स्यात्कस्यचिदाशङ्केत्यत आह—यत्परमार्थसदद्वैतं मायया भिद्यते ह्येतत्तैमिरिकानेकचन्द्रवद्रज्जुः सर्पधारादिभिर्भेदैरिव न परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः। सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते। यथा मृदघटादिभेदैः। तस्मान्निरवयवमजं नान्यथा कथंचन केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः। तत्त्वतो भिद्यमाने ह्यमृतमजमद्वयं स्वभावतः

आत्मभेद मायिक है

'द्वैत अद्वैत का भेद है' ऐसा कहने पर अद्वैत के समान द्वैत भी पारमार्थिक सत् है ऐसी शंका किसी को हो सकती है। इसलिए आगे की कारिका कहते हैं।

जो परमार्थ सत् अद्वैत है, वह माया से ही भेद वाला प्रतीत होता है। जैसे तिमिर दोष के कारण दीखने वाले अनेक चन्द्र तथा भ्रम के कारण प्रतीत होने वाले सर्पधारादि भेदों का अधिष्ठान पारमार्थिक चन्द्र और रज्जु है, वैसे ही माया से प्रतीत होने वाले द्वैत का पारमार्थिक रूप सद् अद्वैत ही है। वह द्वैत भेद पारमार्थिक नहीं क्योंकि आत्मा निरवयव है। अवयवों के भेद से सावयव वस्तु ही भेद वाली होती है। जैसे घटादि अवयव भेद से मृत्तिका। अतः निरवयव और अजन्मा आत्मा माया के अतिरिक्त अन्य किसी

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥२०॥

[(कुछ उपनिषद् व्याख्याता) द्वैत वादी अजन्मा आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थत सिद्ध करना चाहते हैं। पर भला जो पदार्थ स्वभाव से अजन्मा और अमर है वह मरणशीलता को कैसे प्राप्त हो सकेगा ॥२०॥]

सन्मर्त्यतां व्रजेत् । यथाऽग्निः शीतताम् । तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम् । सर्वप्रमाणविरोधात । अजमव्ययमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते न परमार्थतः । तस्मान्न परमार्थसद्द्वैतम् ॥१९॥

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैवाऽऽत्मतत्त्वस्यामृतस्य स्वभावतो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति

भी कारण से भेदवाला नहीं हो सकता। यदि उस अद्वैत में परमार्थतः भेद हो तो अमर, अजन्मा, अद्वय एवं स्वभाव से सत होकर भी आत्मा मृत्यु को प्राप्त होने लगेगी। जैसे अग्नि शीतलता को प्राप्त कर जाय, यह कहना असम्भव है, वैसे ही अपने स्वभाव से ही विपरीत दशा को प्राप्त हो जाना सभी प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण इष्ट नहीं है। अतः अजन्मा अद्वय तत्त्व माया से ही भेद वाला होता है, परमार्थतः नहीं। इसीलिए द्वैत पारमार्थिक सत् नहीं है, किन्तु अद्वैत का विवर्त है ॥१६॥

जीव का जन्म असंगत है

जो कोई उपनिषद् व्याख्याकार वाचाल ब्रह्मवादी जन्मरहित मृत्युरहित आत्मतत्त्व का स्वभाव से जन्म मानते हैं, उनके मत से यदि यह जन्म पारमार्थिक है तो उसकी मृत्यु भी अवश्य माननी पड़ेगी। जो स्वभाव से अजन्मा और अमृत पदार्थ है, ऐसी आत्मा

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥२१॥

[लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं होती और न मरणशील कभी अमर होती है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है ॥२१॥]

परमार्थत एव तेषा जातं चेत्तदेव मर्त्यतामेष्यत्यवश्यम्। स चाजातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति। न कथंचन मर्त्यत्वं स्वभाववैपरीत्य मेष्यतीत्यर्थः ॥२०॥

यस्मान्न भवत्यमृतं मर्त्यं लोके नापि मर्त्यममृतं तथा। ततः प्रकृतेः स्वभावस्यान्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिर्न कथंचिद्भविष्यति। अग्नेरिवौष्ण्यस्य ॥२१॥

भला कैसे मृत्यु को प्राप्त कर सकेगी ? अर्थात् स्वभाव से विपरीत मृत्यु को अमर आत्मा किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकत यह इसका तात्पर्य है ॥२०॥

क्योंकि न मरणशील वस्तु ही लोक में अमर हो सकती है और न अमृत मरणशील हो सकती है। अतः अग्नि की उष्णता की भाँति स्वभाव की विपरीत अवस्था यानी अपने स्वरूप से प्रच्युति किसी भी वस्तु की किसी प्रकार से हो नहीं सकती ॥२१॥

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥२२॥

[जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मर्त्यभाव को प्राप्त होता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतिजन्य होने के कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (अमृत स्वभाव भी) कैसे हो सकता है ।२२।]

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेनामृतो भावो मर्त्यतां गच्छति परमार्थतो जायते तस्य प्रागुत्पत्तेः स भावः स्वभावतोऽमृत इति प्रतिज्ञा मृषैव । कथं तर्हि कृतकेनामृतस्तस्य स्वभावः कृतकेनामृतः स कथं स्थास्यति निश्चलोऽमृतस्वभावतया न कथंचित्स्थास्यत्यात्मजातिवादिनः सर्वदाऽजं नाम नास्त्येव सर्वमेतन्मर्त्यम् । अतोऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः इत्यभिप्रायः ॥२२॥

जन्मनेवाला जीव अमर नहीं हो सकता

जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् परमार्थतः उसका जन्म होता है, उस वादी की यह प्रतिज्ञा मिथ्या ही होगी कि उत्पत्ति से पूर्व वह पदार्थ स्वभाव से अमरणधर्मा था । तो फिर कार्य होने के कारण उसका स्वभाव अमर कैसे हो सकता है ? और कृतक होने से वह अमर पदार्थ किस प्रकार निश्चल एवं अमृत स्वभाव हो सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं होगा । अतः 'आत्मा को जन्मने वाला है' ऐसा मानने वाले के मत में तो सदा अजन्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । किन्तु ये सभी मरणशील हैं । इससे यह भी सिद्ध हुआ कि उनके मत में अनिर्मोक्ष प्रसंग भी आ जायगा ॥२२॥

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ॥२३॥

[परमार्थतः या अपरमार्थतः किसी प्रकार भी सृष्टि होने में श्रुति तो एक सी ही रहेगी। फिर भी उनमें निश्चित और युक्ति संगत जो मत हो वही श्रुति का तात्पर्य हो सकता है अन्य नहीं ॥२३॥]

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न संगच्छते प्रामाण्यम्। बाढं विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः। सा त्वन्यपरा। उपायः सोऽवतारायेत्यवोचाम। इदानीमुक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोद्यपरिहारौ विवक्षितार्थं प्रति सृष्टिश्रुत्यक्षराणामानुलोम्यविरोधाशङ्कामात्रपरिहारार्थौ। भूततः परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुन्यभूततो मायया वा मायाविनेव सृज्यमाने वस्तुनि समा तुल्या सृष्टिश्रुतिः। ननु गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता। न। अन्यथा सृष्टेरप्रसिद्धत्वा-

---

सृष्टि श्रुति का तात्पर्य

पूर्वपक्ष—जब सृष्टि हुई नहीं तो सृष्टि बोधक श्रुतियाँ अजातवादी के मत में कैसे प्रामाणिक सिद्ध हो सकेंगी?

सिद्धान्त—ठीक है सृष्टिबोधक श्रुति तो है किन्तु उसका तात्पर्य दूसरा ही है। वह ब्रह्मात्मैक्य बोध में प्रवेश कराने के लिए उपायमात्र है, ऐसा हम पहले कह आये हैं। यद्यपि इस शंका का परिहार पहले हो चुका है, फिर भी इस समय शंका और समाधान केवल विवक्षित अर्थ बतलाने के लिए है। अतः सृष्टि श्रुति के अक्षरों के अनुरूप विरोध शंका मात्र परिहार के लिए उल्लेख करते हैं।

भूततः यानी परमार्थतः वस्तु की सृष्टि हुई हो या अभूततः यानी माया से मायावी द्वारा वस्तु रची गयी हो, दोनों ही स्थितियों सृष्टि बोधक श्रुति तो समान ही रहेगी। यदि कहो, गौण और मुख्य

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥२४॥

[यदि वास्तव में सृष्टि हुई होती तो 'यहाँ वस्तु कुछ नहीं है' परमात्मा माया से अनेकरूप वाला हो जाता है । तथा 'अजन्मा होता हुआ भी माया के द्वारा वह अनेक रूप से उत्पन्न होता है ।' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में नानात्व का निषेध और माया से नानात्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता है ॥ २४ ॥]

न्निष्प्रयोजनत्वाच्चेत्यवोचाम । अविद्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिर्न परमार्थतः । 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज' (मु० २।१।२) इति श्रुतेः । तस्माच्छ्रुत्या निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं च । युक्त्या संपन्नं तदेवेत्यवोचाम पूर्वग्रन्थैः । तदेव श्रुत्यर्थो भवति नेतरत्कदाचिदपि ॥२३॥

कथं श्रुतिनिश्चय इत्याह—यदि हि भूतत एव सृष्टिः स्यात्ततः

दो प्रकार से शब्द का अर्थ करना पड़े तो शब्द का मुख्य अर्थ लेना ही उचित है ?

ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि अन्य प्रकार से न तो सृष्टि सिद्ध हो सकती है और न उसका कुछ प्रयोजन ही दीखता है, ऐसा हम पहले कह आये हैं । गौण या मुख्य सभी प्रकार की सृष्टि अविद्या विषयक ही है, परमार्थतः नहीं । "अजन्मा बाहर, भीतर सर्वत्र विद्यमान है और अजन्मा है" ऐसी श्रुति कह रही है । इसलिए श्रुति ने जो एक अद्वितीय, अजन्मा अमृत तत्व निश्चित किया है वही युक्ति युक्त है उसी युक्ति सिद्ध वस्तु को पूर्वग्रन्थ से हमने भी कहा था । श्रुति का अर्थ वही हो सकता है, अन्य अर्थ किसी अवस्था में नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

श्रुति का निश्चय यही है यह किस प्रकार समझा जाय ? इस

सत्यमेव नाना वस्त्विति तदभावप्रदर्शनार्थमाम्नायो न स्यात्। अस्ति च 'नेह नानाऽऽस्ति किञ्चन' (क० २।१।११) इत्यादिराम्नायो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः। तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत्। 'इन्द्रो मायाभिः' (बृ० २।५।१९) इत्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन व्यपदेशात्। ननु प्रज्ञावचनो मायाशब्दः। सत्यम्। इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्यामयत्वेन मायात्वाभ्युपगमाददोषः। मायाभिरिन्द्रियप्रज्ञाभिरविद्यारूपाभिरित्यर्थः। 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति श्रुतेः। तस्मान्माययैव जायते तु सः। तुशब्दोऽवधा-

---

पर कहते हैं। यदि परमार्थतः सृष्टि हुई तो नाना वस्तु सत्य ही थी, फिर उसके अभाव दिखलाने के लिए कोई वेद वाक्य नहीं होना चाहिए था। किन्तु द्वैत की निषेधिका श्रुति तो है। यथा "यहाँ नाना कुछ नहीं है" इत्यादि। अतः आत्मैकत्व बोध कराने के लिए प्राण सम्वाद के समान ही सृष्टि-श्रुति अपारमार्थिक है। इसके अतिरिक्त 'परमेश्वर माया शक्तियों द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है' ऐसे मायिक सृष्टि बतलाने वाले श्रुति वाक्य भी हैं जिनका माया शब्द से निर्देश किया गया है।

पूर्वपक्ष—माया शब्द प्रज्ञा वाचक है क्योंकि प्रज्ञा के नाम में निघण्टु ग्रन्थ में माया शब्द मिथ्या अर्थ का वाचक नहीं। अतः इससे सृष्टि का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।

सिद्धान्त—ठीक है। अविद्यामय होने के कारण इन्द्रिय जन्य प्रज्ञा को भी मायिक माना गया है। अतः माया शब्द प्रज्ञा वाचक मानने पर भी दोष नहीं। माया यानी इन्द्रिय जन्य प्रज्ञा जो कि अविद्या रूपा है, उन्हीं से परमेश्वर अनेक रूप धारण करता है। "वस्तुतः अजन्मा होता हुआ भी अनेक रूप से जन्मता है" ऐसी ही श्रुति भी है। इसलिए माया से ही परमेश्वर का जन्म संभव है।

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥२५॥

जो सम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इस श्रुति में हिरण्यगर्भ की उपास्यत्व की निन्दा द्वारा कार्य वर्ग मात्र का प्रतिषेध किया गया तथा 'इसे कौन उत्पन्न करे' इत्यादि आक्षेपार्थक श्रुति वाक्य के कारण का भी प्रतिषेध कर दिया गया है ॥ २५ ॥

रणार्थ—माययैवेति। न ह्यजायमानत्वं बहुधा जन्म चैकत्र संभवति। अग्नाविव शैत्यमौष्ण्यं च। फलवत्त्वच्चाऽऽत्मैकत्वदर्शनमेव श्रुतिनिश्चितोऽर्थः। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ई० ७ इत्यादिमन्त्रवर्णात्। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' क० २।१।१० इति निन्दितत्वाच्च सृष्ट्यादिभेददृष्टेः ॥ २४ ॥

'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते' ई० १२ इति संभूते-

श्लोक में तु शब्द निश्चय के लिए है। 'माया से ही' ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि एक धर्मी में अजायमानत्व और अनेक प्रकार से जन्म धारण करना ऐसा विरुद्ध धर्म संभव नहीं है। जैसे अग्नि में शीतलता और उष्णता विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। फल होने से भी आत्मैकत्व दर्शन ही श्रुति का निश्चित अर्थ है।" एकत्व आत्मदर्शी में तत्वबोध हो जाने पर क्या शोक और मोह हो सकता है? एवं जो उसमें भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है" इस श्रुति से सृष्टि आदि भेद दृष्टि की निन्दा श्रवण होने से उक्त आत्मैकत्व दर्शन ही श्रुति का सुनिश्चित अर्थ है, यह बात सिद्ध हुई ॥ २४ ॥

श्रुति में कार्य कारण का निषेध किया गया है।

जो हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश

रुपास्यत्वापवादात्संभवः प्रतिषिध्यते। न हि परमार्थतः संभूतायां संभूतौ तदपवाद उपपद्यते। ननु विनाशेन संभूतेः समुच्चयविध्यर्थः संभूत्यपवादः। 'यथाऽन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' ई० ६ इति। सत्यमेव देवतादर्शनस्य संभूतिविषयस्य विनाशशब्दवाच्यस्य कर्मणः समुच्चयविधानार्थः संभूत्यपवादः। तथाऽपि विनाशाख्यस्य कर्मणः स्वाभाविकाज्ञानप्रवृत्तिरूपस्य मृत्योरतितरणार्थत्ववद्देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य पुरुषसंस्कारार्थस्य कर्मफलरागप्रवृत्तिरूपस्य साध्यसाधनैषणाद्वयलक्षणस्य मृत्योरतितरणार्थत्वम्। एवं ह्येषणाद्वयरूपान्मृत्योरशुद्धेर्वियुक्तः पुरुषः संस्कृतः स्यादतो मृत्योरतितरणार्था देवतादर्शनकर्मसमुच्चयलक्षणा ह्यविद्या। एवमेवैषणा-

---

करते हैं। इस प्रकार सम्भूति के उपास्यत्व की निन्दा की जाने के कारण कार्य का निषेध किया गया है। क्योंकि परमार्थ सृष्टि हुई होती तो उसकी निन्दा करनी उचित नहीं थी।

पूर्वपक्ष—सम्भूति के उपास्यत्व की निन्दा के साथ समुच्चय विधान के लिए है। यथा "जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में पड़ते हैं, इत्यादि वाक्य से सिद्ध होता है।

सिद्धान्त—यद्यपि सम्भूति विषयक देवोपासना का विनाश शब्द वाच्य और विनाश शब्द वाच्य कर्म का समुच्चय विधान के लिए सम्भूति की निन्दा सत्य ही है। फिर भी विनाश नामक कर्म, जो स्वाभाविक अज्ञान प्रवृत्ति रूप मृत्यु के सन्तरण के लिए है, वैसे ही देवोपासना एवं कर्म का समुच्चय पुरुष संस्कार के लिए है। वह कर्मफल के राग से होने वाली प्रवृत्ति रूपा, जो कि साध्य साधन लक्षण दो प्रकार की वासना में मृत्यु है, उससे सन्तरण के लिए है। इस प्रकार एषणाद्वय रूप मृत्यु की अशुद्धि से छूटा हुआ पुरुष संस्कार युक्त हो जाता है। अतः देवदर्शन और कर्मसमुच्चय रूप अविद्या भी मृत्यु से पार होने के लिए ही है।

लक्षणादविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण संबध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते। अतोऽन्यार्थत्वादमृतत्वसाधनंब्रह्मविद्यामपेक्ष्य निन्दार्थ एव भवति संभूत्यपवादः। यद्यप्यशुद्धिवियोगहेतुरतन्निष्ठत्वात्। अत एव संभूतेरपवादात्संभूतेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति। परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्यामृताख्यः संभवः प्रतिषिध्यते। एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युपस्थापितस्याविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्परमार्थतः को न्वेनं जनयेत्। न हि

इस प्रकार एषणात्रयी रूप अविद्या मृत्यु से पार हुए विरक्त पुरुष उपनिषदर्थ की आलोचना में तत्पर व्यक्ति को अवश्य ही ब्रह्मात्मैक्यत्व विद्या प्राप्त होती है। इसलिए पहले होने वाली अविद्या की अपेक्षा से पश्चाद्भावी ब्रह्मविद्या अमरत्व का साधन है। अतः एक पुरुष के साथ पूर्वोक्त रीति से सम्बद्ध होने के कारण अविद्या के साथ देवोपासना का समुच्चय सम्भव हो जाता है। इसलिए अमरत्व का साधन साक्षात् ब्रह्मविद्या है। उसकी अपेक्षा आपेक्षिक अमरत्व का साधन होने से ही सम्भूति उपासना की निन्दा की गई है। यद्यपि उक्तरीति से समुच्चय उपासना अशुद्धि क्षय का कारण है, फिर भी मोक्ष का साक्षात् साधन न होने के कारण उसकी निन्दा युक्ति संगत ही है। इसीलिए सम्भूति की निन्दा की जाने के कारण उसकी सत्ता आपेक्षिक यानी अपारमार्थिक है। इसी अभिप्राय से परमार्थ सत्य आत्मैकत्व की अपेक्षा सापेक्ष अमृत नामक हिरण्यगर्भ की सम्भूति का प्रतिषेध किया गया है।

इस प्रकार अविद्या द्वारा उपस्थित किया गया। माया निर्मित जीव जब अविद्या के नाश होने पर अपने स्वरूप में स्थित होता

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाऽजं प्रकाशते ॥२६॥

क्योंकि 'वह यह आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है' इत्यादि श्रुति वाक्य से आत्मा का अग्राह्यत्व के कारण पूर्वोक्त सभी भाव पदार्थ का प्रतिषेध किया है। अतः ऐसे निषेध हेतु के द्वारा ही आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

रज्ज्वामविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित्। तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को न्वित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते। अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयितृ कारणं न किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः। नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्' क० १।२।१८ इति श्रुतेः ॥२५॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेन 'अथात आदेशो नेति नेति' बृ० २।३।६ इति प्रतिपादितस्याऽऽत्मनो दुर्बोध्यत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुनरुपाया-

---

है, तब भला परमार्थतः उसे कौन उत्पन्न कर सकता है ? रज्जु में अविद्या से कल्पित सर्प जब विवेक से नष्ट हो जाता है, तब इसे भी कोई तो उत्पन्न नहीं करता। वह बिना उत्पन्न हुए ही भ्रान्ति से प्रतीत हो रहा था। "कौन इसे उत्पन्न करे ?" इत्यादि श्रुति आक्षेपार्थक है, न कि प्रश्नार्थक। अतः इससे कारण का प्रतिषेध किया गया है। भावार्थ यह है कि अविद्या से उत्पन्न हुए जीव का विद्या द्वारा नष्ट हो जाने पर फिर कोई उसका जनक कारण नहीं रह जाता। ऐसे ही "किसी कारण किसी रूप में यह आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है" इत्यादि श्रुति भी कह रही है ॥२५॥

निखिल अनात्मवस्तु के प्रतिषेध से आत्मबोध होता है।

"अब इसके बाद आदेश बतलाया जाता है, यह नहीं, यह नहीं" इस प्रकार समस्त विशेषणों के निषेध बतलायी जाने वाली आत्मा में दुर्बोधत्व मानने वाली श्रुति बार बार दूसरे उपाय से भी

न्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपिपादयिषया यद्यद्व्याख्यातं तत्सर्वं निह्नुते। ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलपत्यर्थात् 'स एष नेति नेति' बृ० ३।९।२६ इत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिरुपायस्योपेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्योपेयवद्ग्राह्यता मा भूदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निह्नुत इत्यर्थः। ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते स्वयमेव ॥ २६ ॥

उसे बतलाना चाहती है। इसलिए जो कुछ भी पहले कहा गया है, उक्त श्रुति उस सभी में मिथ्यात्व बत लाती है। अर्थात् बुद्धि ग्राह्यजन्य सभी विषयों का "स एष नेति नेति" इत्यादि श्रुति अपलाप करती है। आत्मा में समस्त प्रपञ्च की विशेष निषेध द्वारा अदृश्यता दिखलाने वाली श्रुति इसलिए भी सावधानी से तत्त्व प्रतिपादन करती है, कि उपाय रूप से बतलाये गये तत्त्व, जो कि वस्तुतः उपेयनिष्ठ हैं, पर इस रहस्य को न जानने वाले अज्ञानी जीव साध्य के समान साधन वस्तु को भी ग्राह्य न मान ले, इसलिए अग्राह्यता रूप हेतु से उनका निषेध करते हैं, यही इसका तात्पर्य है। उसके बाद उक्त रीति से उपाय उपेयनिष्ठ हैं, और उपेय नित्य एकरस हैं, इस रहस्य के जानने वाले पुरुषों को यह बाहर भीतर विद्यमान अजन्मा आत्म तत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान के बोध में उपाय है और अधिष्ठान नित्य एकरस है। इस रहस्य को जो जानता है, उस व्यक्ति के द्वारा कल्पित उपायों के प्रतिषेध कर देने पर उपेय रूप अधिष्ठान को जानने के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीलिए श्रुतियों में निर्विशेष आत्मा को बतलाने के लिये पहले आरोप और पीछे आरोपित वस्तु का अपवाद किया जाता है। इसी आरोपापवाद न्याय से निर्विशेष वस्तु का बोध सम्भव है, अन्यथा नहीं ॥२६॥

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥२७॥

माया से ही सद् वस्तु का जन्म हो सकता है, तत्त्वतः नहीं। जिसके मत में सद्वस्तु का जन्म तात्त्विक होता है, उसके मतानुसार भी उत्पत्तिशील का ही जन्म होता है, परमार्थ सत् अजन्मा अद्वैत तत्त्व का नहीं ॥२७॥

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत्। युक्त्या चाधुनैतदेव पुनर्निर्धार्यत इत्याह। तत्रैतस्यात्सदाऽग्राह्यमेव चेतसदेवाऽऽत्मतत्त्वमिति। तन्न। कार्यग्रहणात्। यथा सतो मायाविनो मायया जन्मकार्यम्। एवं जगतो जन्मकार्यं गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थसन्तमात्मानं जगज्जन्म मायास्पदमवगमयति। यस्मात्सतो हि विद्यमानात्कारणान्मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते नासतः कार-

---

माया से ही सद्वस्तु का जन्म संभव है।

इस प्रकार सैकड़ों श्रुति वाक्यों से यही निश्चित होता है, कि अजन्मा अद्वितीय आत्मतत्त्व ही बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। यही बात युक्ति द्वारा अब फिर से निश्चय कराई जाती है इसलिए कहते हैं।

उस विषय में यह शंका हो सकती है, कि जब आत्म तत्त्व सदा अग्राह्य ही है, तो उसे असत्य ही क्यों न मान लिया जाय?

ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि उसका कार्य देखा जाता है। जैसे सत्य मायावी का माया से जन्म होता है, ऐसे ही जगत् का जन्मरूप कार्य जो गृहीत हो रहा है, वही इसका कारण मायावी के समान परमार्थ सत् आत्मा को जगज्जन्महेतु माया के आश्रय का

णात्। न तु तत्त्वत एवाऽऽत्मनो जन्म युज्यते। अथवा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतो यथा तथाऽग्राह्यस्यापि सत एवाऽऽत्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते। न तु तत्त्वत एवाजस्याऽऽत्मनो जन्म। यस्य पुनः परमार्थसदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण जायते वादिनो न हि तस्याजं जायत इति शक्यं वक्तुं विरोधात्। ततस्तस्यार्थाज्जातं जायत इत्यापन्नं ततश्चानवस्था जाताज्जायमानत्वेन। तस्मादजमेकमेवाऽऽत्मतत्त्वमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

बोध कराता है। क्योंकि माया से रचे गये हस्ती आदि कार्य के समान, जगत् जन्मरूप कार्य विद्यमान सत् कारण से ही मानना संभव है, असत् कारण से नहीं। और तत्त्वतः तो आत्मा का जन्म लेना संभव ही नहीं है। अथवा ऐसा समझना चाहिये। जैसे रज्जु आदि से सर्प आदि का जन्म होता है, ऐसे ही विद्यमान वस्तु का जन्म माया से ही संभव है, वस्तुतः नहीं तथा अग्राह्य विद्यमान आत्मा का रज्जुसर्प के समान भी माया के द्वारा ही जगत् रूप से जन्म सम्भव है। वस्तुतस्तु उस अजन्मा आत्मा का जन्म हो ही नहीं सकता। पर जिस वादी के मत में परमार्थ सत्य आत्मतत्त्व ही जगत् रूप से उत्पन्न होता है, उसके मत से यह नहीं कहा जा सकता, कि अजन्मा वस्तु का ही जन्म होता है। क्योंकि ऐसा कहने में स्पष्ट विरोध आता है। अतः यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि उसके सिद्धान्तानुसार किसी जन्मने वाले पदार्थ का ही जन्म होता है, इसके बाद तो वर्तमान जायमान वस्तु का कारण जब कोई जन्मशील ही है, तो उसका कारण भी कोई जन्मशील वस्तु ही होगी। इस प्रकार पुनः पुनः अन्वेषण करने पर अनवस्था आ जायगी। अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मतत्त्व अजन्मा और एक ही है ॥२७॥

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते ॥२८॥
यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥ २६ ॥

[असद् वस्तु का जन्म माया से या तत्त्वतः किसी प्रकार भी होना संभव नहीं है, क्योंकि वन्ध्या पुत्र न तत्त्व से और न माया से ही उत्पन्न होता है (अतः असद् कार्यवाद सर्वथा असंगत है) ॥ २८ ॥]

[जैसे स्वप्नावस्था में माया के द्वारा ही मन ग्राह्य ग्राहक रूप द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है वैसे ही जाग्रत काल में भी यह मन माया से (नाना रूपों में) स्फुरित होता है ॥ २९ ॥]

असद्वादिनामसतोऽभावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथंचन जन्म युज्यते । अदृष्टत्वात् न हि वन्ध्यापुत्रो मायया तत्त्वतो वा जायते तस्मादत्रासद्वादो दूरत एवानुपपन्न इत्यर्थः ॥ २८ ॥

कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते । यथा रज्ज्वां विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणः सन्नेवं मनः परमार्थविज्ञप्त्याऽऽत्मरूपे-

---

असद् वस्तु का जन्म कथमपि संभव नहीं ।

असत्कार्य वादियों के पक्ष भी असद् वस्तु का जन्म न माया से और न वस्तुतः किसी भी प्रकार संभव है, क्योंकि लोक में ऐसा कहीं भी नहीं देखा गया । वन्ध्यापुत्र न माया से उत्पन्न होता है, और न वस्तुतः । अतः कार्यकारण निरूपण करने पर असद्वाद तो सर्वथा ही असंगत है ॥२८॥

अच्छा तो सद्वस्तु का जन्म माया से ही कैसे हो सकता है ? इस पर आगे की कारिका कहते हैं ।

जैसे रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु रूप से देखे जाने पर सत् है, वैसे

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ३० ॥

[जैसे स्वप्न काल में अद्वितीय मन ही ग्राह्य ग्राहकादि द्वैत रूप से भासता हैं, इसमें सन्देह नहीं, ठीक वैसे ही जाग्रत काल में भी निस्सन्देह अद्वितीय मन ही ग्राहकादि द्वैत से भासने वाला है ॥ ३० ॥]

णावेद्यमाणं सद्ग्राह्यग्राहकरूपेण द्वयाभासं स्पन्दते स्वप्ने मायया रज्ज्वामिव सर्पः । तथा तद्वदेव जाग्रज्जागरिते स्पन्दते मयया मनः स्पन्दत इवेत्यर्थः ॥२९॥

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्मरूपेणाद्वयं सद्द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः । न हि स्वप्ने हस्त्यादि ग्राह्यं तद्ग्राहकं वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति । जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात ॥ ३० ॥

ही परमार्थ चैतन्य आत्मस्वरूप से देखा जाने पर मन भी सत्य है। हां, ग्राह्यग्राहक रूप से प्रतीत होने वाला द्वैताभास माया द्वारा स्वप्न में मनःस्पन्दन मात्र ही है। वह तो रज्जु में सर्प की भांति है। वैसे ही जाग्रदवस्था में यह मन ही माया से विविध रूप में स्फुरित सा जान पड़ता है। वास्तव में स्फुरित भी नहीं ॥२९॥

जाग्रद् और स्वप्न मन की कल्पना मात्र है।

रज्जु रूप से जैसे सर्प सत है, ऐसे ही परमार्थतः अद्वय आत्मस्वरूप से सत् मन ही स्वप्न में द्वैताभास रूप से दीखता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। क्योंकि स्वप्न में ग्राह्य हस्त्यादि तथा उसके ग्राहक चक्षुरादि दोनों ही विज्ञान स्वरूप स्वप्न द्रष्टा से भिन्न कुछ भी नहीं है, वैसे जाग्रत् में प्रतीत होने वाले ग्राह्य ग्राहक भी अपने साक्षी से भिन्न नहीं। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में परमार्थ सत विज्ञान मात्र तो समान ही है ॥३०॥

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ३१ ॥

[मन से देखने योग्य यह जो कुछ जड़ चेतन द्वैत है वह मनोदृश्य मन ही है, क्योंकि मनके अमनी भाव (निरोध) हो जाने पर सुषुप्ति अवस्था में द्वैत उपलब्ध नहीं होता ॥ ३१ ॥]

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एवेत्युक्तम् । तत्र किं प्रमाणमित्यन्वयव्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह । कथं तेन हि मनसा विकल्प्यमानेन दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं मन इति प्रतिज्ञा। तद्भावे भावात्तदभावेऽचाभावात् । मनसो ह्यमनीभावे निरुद्धे विवेकदर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां रज्ज्वामिव सर्पे लयं गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत इत्यभावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थ ॥ ३१ ॥

'रज्जु सर्प के समान विकल्पना रूप यह मन ही द्वैत रूप से भासता है', ऐसा कहा गया है। इस विषय में प्रमाण क्या ? ऐसी अकाङ्क्षा होने पर अन्वय व्यतिरेक अनुमान ही उक्त विषय में प्रमाण बतलाया जाता है। कैसे ? उस विकल्पमान मन से दीखने योग्य यह सम्पूर्ण द्वैत मन ही है, ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है। क्योंकि मन के रहने पर द्वैत रहता है, मन के न रहने पर द्वैत नहीं रहता। विवेक ज्ञान के अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन का विरोध करदिये जाने पर अथवा सुषुप्त अवस्था में द्वैत वैसे ही नहीं दीखता, जैसे रज्जु में सर्प का बाध या लय कर दिये जाने पर सर्प नहीं दीखता। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा द्वैत का अभाव हो जाने से उसकी असत्ता सुतरां सिद्ध हो जाती है। यह इसका भाव है ॥३१॥

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥ ३२ ॥

[जब (शास्त्र और आचार्य के उपदेश से) आत्मसत्य के बोध हो जाने पर मन संकल्प नहीं करता, तब मन अपने भाव को प्राप्त हो जाता है । इस अवस्था में (दाह्य के अभाव में अग्नि के दाहकत्व शान्त हो जाने के सदृश ही) ग्राह्य वस्तु के अभाव हो जाने पर वह मन ग्रहणादि विकल्प से शून्य हो जाता है ॥ ३२ ॥]

कथं पुनरमनीभाव इति । उच्यते । आत्मैव सत्यमात्मसत्यं मृत्तिकावत् । "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा० ६।१।४)" इति श्रुतेः । तस्य शास्त्राचार्योपदेशमन्वबोध आत्मसत्यानुबोधः । तेन संकल्प्याभावतया न संकल्पयते । दाह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः । यदा यस्मिन्काले, तदा तस्मिन्कालेऽमनस्तामनोभावं याति ग्राह्याभावे तन्मनोऽग्रहं ग्रहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

आत्मज्ञान से मनो निरोध

अमनी-भाव किस प्रकार होता है ? इस पर कहते हैं—"विकार वाणी से कहने मात्र के लिये है । वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुति से घट के कारण मृत्तिका के समान विश्व विकल्प का अधिष्ठान आत्मा को ही समझो । उस आत्मसत्य का शास्त्र और आचार्य के उपदेश के बाद जो बोध होता है उसी को आत्मसत्यानुबोध कहा गया है । इसी बोध से संकल्प योग्य वस्तु का अभाव हो जाने के कारण साधक वैसे ही संकल्प नहीं करता, जैसे दाह्य वस्तु के अभाव में अग्नि का दाहकत्व स्वयं ही शान्त हो जाता है । जब चित्त संकल्प नहीं करता, तभी वह मन अमनी-भाव को प्राप्त कर

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥ ३३ ॥

[सम्पूर्ण से रहित अजन्मा (ज्ञप्ति मात्र) ज्ञान को तत्त्वज्ञानी लोग ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न बतलाते हैं। जिस ज्ञान का ज्ञेय ब्रह्म है, वह ज्ञान आत्म स्वरूप, अज और नित्य है ऐसे अजन्म ज्ञान से अजन्मा ज्ञेय रूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है (वह किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता ॥ ३३ ॥]

यद्यसदिदं द्वैतं केन समंजसमात्मतत्त्वं विबुध्यत इति । उच्यते । अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितमत एवाजं ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणाऽभिन्नं प्रचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः। न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽग्न्युष्णवत् । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३।९।२८)" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१)" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

लेता है, अर्थात् ग्राह्यवस्तु का अभाव हो जाने के कारण वह मन ग्रहण विकल्पना से रहित अग्रह हो जाता है ॥३२॥

आत्म ज्ञान किसे होता है

यदि यह सम्पूर्ण द्वैत असत्य है तो भला यह प्रकृत आत्मतत्त्व किससे जाना जाता है ? इस पर कहते हैं—सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित अकल्पक, अतएव जन्म रहित ज्ञप्तिमात्र ज्ञान को ब्रह्मज्ञानी लोग ज्ञेय अर्थात् परमार्थ सत्स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न बतलाते हैं। जैसे अग्नि की उष्णता अग्नि की स्थिति पर्यन्त लुप्त नहीं होती, वैसे ही नित्य विज्ञाता के विज्ञान का कभी भी लोप नहीं होता। ऐसा ही "ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है", ब्रह्म सत्य ज्ञान और देशकाल-वस्तु-परिच्छेद से रहित है", इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। उस ज्ञान का ही विशेषण बतलाते हैं कि ब्रह्म जिस ज्ञान का

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥३४॥

[निरुद्ध, सर्वकल्पनाशून्य, विवेकयुक्त मन का जो व्यापार है वह विशेष रूप से योगियों को जानने योग्य है। सुषुप्ति काल में चित्त की वृत्ति अन्य प्रकार की रहती है, निरुद्धावस्था के समान नहीं ॥ ३४ ॥]

तस्यैव विशेषणं ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्मज्ञेयमुष्णस्येवाग्निवदभिन्नम्। तेनाऽऽत्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता। नित्यविज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

आत्मसत्यानुबोधेन संकल्पमकुर्वद्बाह्यविषयाभावे निरिन्धनाग्निवत्प्रशान्तं निगृहीतं निरुद्ध मनो भवतीत्युक्तम्। एवं च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावश्चोक्तः। तस्यैवं निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो

ज्ञेय है, वह ज्ञान अग्नि में उष्णता की भाँति ब्रह्म से अभिन्न है। उसी आत्मस्वरूप अजन्मा जन्म से रहित ज्ञान ज्ञेय स्वरूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है, भाव यह कि नित्य प्रकाश स्वरूप सूर्य की भाँति नित्य विज्ञान एकरस घनस्वरूप होने से वह ब्रह्म अपने प्रकाश के लिये किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता ॥३३॥

निरुद्ध शान्त मन का स्वरूप

पहले यह बतला आयें हैं, कि आत्म सत्यानुबोध हो जाने पर जब मन संकल्प नहीं करता, तब बाह्य विषय के अभाव हो जाने से ईन्धन रहित अग्नि के समान वह मन स्वयं ही प्रशान्त निगृहीत अर्थात् निरुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार मन का अमनीभाव हो

निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जितस्य धीमतो विवेकवतः प्रचरणं प्रचारो यः स तु प्रचारो विशेषेण ज्ञेयो योगिभिः। ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुषुप्तस्थस्य मनसः प्रचारस्तादृश एव विरुद्धस्यापि प्रत्ययाभावाविशेषात्किं तत्र विज्ञेयमिति। अत्रोच्यते। नैवम्। यस्मात्सुषुप्तेऽन्यः प्रचारोऽविद्यामोहतमोग्रस्तस्यान्तर्लीनानेकानर्थप्रवृत्तिबीजवासनावतो मनस आत्मसत्यानुबोधहुताशविप्लुष्टाविद्यानर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्धस्यान्य एव प्रशान्तसर्वक्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः। अतो न तत्समः। तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः ॥३४॥

जाने पर द्वैत का अभाव भी हम पहले कह आये हैं। इस प्रकार निग्रह किये गये, निरूद्ध, कल्पना रहित, विवेक सम्पन्न उस चित्त का जो व्यापर है, वह योगियों द्वारा विशेष रूप से जानने योग्य है।

पू० पक्ष—सभी प्रतीतियों के अभाव हो जाने पर सुषुप्ति में स्थित मन का व्यापार जैसा होता है वैसा ही सभी प्रतीतियों के अभाव हो जाने पर निरूद्ध मन का व्यापार भी होता है। उसमें विशेष रूप से जानने योग्य क्या है ?

सि० पक्ष—यहाँ पर मुझे यह कहना है कि यह ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अविद्या मोह रूप अन्धकार से ग्रस्त, अन्तर्लीन, अनेक अनर्थ प्रवृत्ति के बीजभूत, वासनाओं से युक्त मन का व्यापार सुषुप्ति में और ही प्रकार का होता है, एवं आत्मसत्य के बोध रूप अग्नि से जला दिये गये अविद्या जन्य अनर्थ प्रवृत्ति के बीज जिसमें ऐसे प्रशान्त सर्वक्लेश रजोगुण से शून्य निरूद्ध मन का स्वतन्त्र व्यापार अन्य ही प्रकार का होता है। अतः सुषुप्ति के समान निरूद्ध मन का व्यापार नहीं होता है। इसीलिये पहले कहा गया उचित ही है कि निरूद्ध मन का व्यापार योगियों को विशेष रूप से जानना चाहिये, यह इसका भावार्थ है ॥३४॥

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ ३५ ॥

[स्वप्नावस्था में मन (अपने कारण अविद्या में) लीन होता है, किन्तु निरुद्धमन उसमें लीन नहीं होता। उस समय तो सभी ओर से ज्ञान, प्रकाश, भयशून्य केवल ब्रह्म ही रहता है ॥ ३५ ॥]

प्रचारभेदे हेतुमाह—लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात्सर्वाभिरविद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूपविशेषरूपं बीजभावमापद्यते तद्विवेकविज्ञानपूर्वकं निरुद्धं निगृहीतं सन्न लीयते तमोबीजभावं नाऽऽपद्यते तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य मनसः। यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत्संवृत्तमित्यतस्तदेव निर्भयम्। द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात्। शान्तमभयं ब्रह्म। यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। तदेव विशेष्यते ज्ञप्तिर्ज्ञानमात्मस्वभावचैतन्यं तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य तद्ब्रह्म ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसघनमित्यर्थः। समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापकमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

सुषुप्ति और समाधि में भेद

सुषुप्त और समाधिस्थ मन के व्यापार भेद का हेतु बतलाते हैं, क्योंकि सुषुप्ति में सम्पूर्ण अविद्या रागादि प्रतीतियों के बीजभूत वासनाओं के सहित ही अज्ञानान्धकार रूप अविशेष स्वरूप बीज भाव को मन प्राप्त हो जाता है, अर्थात् मन अपने कारण अविद्या में लीन होजाता है। किन्तु वहीं विवेक विज्ञान पूर्वक निरूद्ध किया हुआ मन समाधि के समय अज्ञान में लीन नहीं होता, अर्थात् अज्ञान रूप बीजभाव को प्राप्त नहीं होता। अतः सुषुप्त और समाहित मन के व्यापार में भेद बतलाना ठीक ही है।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥३६॥

वह ब्रह्म अजन्मा, अज्ञानरूप निद्रा से रहित स्वप्न से शून्य नामरूप से रहित और सदा भासने वाला होने के कारण सदा नित्य प्रकाश और सर्वरूप होता हुआ ज्ञानस्वरूप है, ऐसे ब्रह्म में कोई उपचार (समाधि आदि कर्तव्य) नहीं है ॥३६॥]

जन्मनिमित्ताभावात्सबाह्याभ्यन्तरमजम् । अविद्यानिमित्तं हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम । सा चाविद्याऽऽत्मसत्यानुबोधेन निरुद्धा । यतोऽजमतएवानिद्रम् । अविद्यालक्षणाऽनादिमाया निद्रा स्वापात्प्रबुद्धोऽद्वयस्वरूपेणाऽऽत्मनाऽतोऽस्वप्नम् । अप्रबोधकृते ह्यस्य नामरूपे प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्पवद्विनष्टे इति न नाम्नाऽभिधीयते ब्रह्म रूप्यते वा न केनचित्प्रकारेणेत्यनामकमरूपकं च तत् । "यतो

जब अविद्या रचित ग्राह्य ग्राहक रूप दोनों प्रकार के मलों से चित्त रहित हो जाता है । तब वह परम अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है । अतः भय के कारण द्वैत ज्ञान का अभाव हो जाने से समाधि अवस्था में वही मन भय रहित हो जाता है । ब्रह्मशान्त और भय रहित है, जिसे जानने वाले पुरुष को किसी से भय नहीं होता । उसी का विशेषण बतलाते हैं । ज्ञान को ज्ञप्ति कहते हैं, जो कि आत्म चैतन्य रूप है, वही ज्ञान जिसका प्रकाश है, वह ब्रह्म है । ज्ञानालोक अर्थात् विज्ञानैक रस घन है । वह सभी ओर आकाश के समान बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक है ॥३५॥

प्रकारान्तर से ब्रह्म का स्वरूप निरूपण

जन्म के निमित्त का अभाव होने से बाहर भीतर सर्वत्र अजन्मा ब्रह्म विद्यमान है । उसका जन्म रज्जु सर्प की भाँति अविद्या के

वाचो निवर्यन्ते तै० २।४।१" इत्यादिश्रुतेः। किंच सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपमग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात्। ग्रहणाग्रहणे हि रात्र्यहीन तमश्चाविद्यालक्षणं सदाऽप्रभातत्वे कारणं तदभावान्नित्यचैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति। अत एव सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्। नेह ब्रह्मण्येवंविध उपचरणमुपचारः कर्तव्यः। यथाऽन्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधानाद्युपचारः। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः कथंचिदपि कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाश इत्यर्थः ॥३६॥

कारण से ही होता है, ऐसा हम पहले कह आये हैं, क्योंकि वह अविद्या आत्मसत्य के यथार्थ बोध से निरूद्ध हो चुकी है। इसीलिये ब्रह्म अज और अनिद्र है। यहाँ अविद्या रूप अनादि अनिर्वचनीय माया ही निद्रा है। अद्वय स्वरूप आत्मरूप से जब वह जीव स्वप्न से जग जाता है, तब उसे अस्वप्न कहा गया है, क्योंकि उस अद्वय आत्मा के नामरूप अज्ञान के कारण ही है। वे नामरूप रज्जु सर्प की भाँति ज्ञान से विनष्ट कर दिये जाते हैं। इसीलिये ब्रह्म किसी नाम से नहीं बतलाया जाता है, और न किसी प्रकार से। क्योंकि वह नामरूप से रहित है, ऐसा ही जहाँ, से वाणी लौट आती है' इत्यादि श्रुति से भी सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, वह अग्रहण, अन्यथा ग्रहण तथा आविर्भाव तिरोभाव से रहित होने के कारण सकृत विभात अर्थात् नित्य प्रकाश स्वरूप है। ग्रहण तथा अग्रहण ही रात्रि और दिन हैं, एवं अविद्या रूप अन्धकार ही सदा ब्रह्म के प्रकाशित न होने में कारण है। उस अविद्या का अभाव होने से एवं नित्य चैतन्यरूप होने के कारण ब्रह्म का नित्य चैतन्य स्वरूप होना भी युक्ति युक्त ही है। अत एव वह सर्व तथा ज्ञान स्वरूप होने के कारण सर्वज्ञ है। ऐसे ब्रह्म में किसी प्रकार का व्यापार कर्तव्य नहीं है। जैसा कि दूसरों को आत्म स्वरूप से भिन्न रूप में समाधि आदि-

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥३७॥

[वह आत्मा सभी प्रकार के वागादि व्यवहार से रहित चिन्तनादि सभी मनोव्यापार से शून्य, अतीत, अत्यन्त प्रशान्त नित्य प्रकाश, समाधिरूप, चलनादि क्रिया से शून्य और निर्भय है ॥३७॥]

अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये हेतुमाह—अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापो वाक्करणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य तस्माद्विगतः । वागत्रोपलक्षणार्था सर्वबाह्यकारणवर्जित इत्येतत् । तथा सर्वचिन्तासमुत्थितः । चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता बुद्धिस्तस्याः समुत्थितोऽन्तःकरणवर्जितः इत्यर्थः । "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः मु० २।१।२ इति श्रुतेः । "अक्षरात्परतः परः

कर्तव्य हैं । भावार्थ यह है कि वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है । इसीलिये अविद्या के नाश हो जाने पर उस ब्रह्म में किसी प्रकार का व्यापार कर्त्तव्य नहीं है, और न संभव ही है ॥३६॥

अनामकत्वादि पूर्व श्लोक में कहे गये अर्थ की सिद्धि के लिये हेतु बतलाते हैं—जिसके द्वारा शब्द का उच्चारण किया जाता हो, वह अभिलाप अर्थात् वाणी है, जो सभी प्रकार के शब्द उच्चारण का कारण है । ऐसे शब्दोच्चारण के साधन से जो रहित हो, उसे सर्वाभिलाप विगत कहते हैं । यहाँ पर वागिन्द्रिय उपलक्षण के लिये हैं, तात्पर्य यह कि वह परमात्मा सभी बाह्य इन्द्रियों से रहित है । वैसे ही सभी प्रकार की चिन्ता से भी वह ऊपर उठा हुआ है । जिससे चिन्तन किया जाता है वह बुद्धि ही चिन्ता पद वाच्य है, परमात्मा उस बुद्धि रूप चिन्ता अर्थात् अन्तःकरण से रहित है । ऐसा ही 'प्राण रहित, मनोरहित और शुद्ध है, एवं वह परमात्मा सम्पूर्ण जगत का कारण अक्षर पदवाच्य माया से भी पर है' इत्यादि श्रुतियों

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥३८॥

[जिस ब्रह्मतत्त्व में न तो ग्रहण है और न त्याग ही है। जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है, उस अवस्था में आत्मा में ही स्थित जन्मरहित ज्ञान समता को प्राप्त कर लेता है ॥३८॥]

मु० २।१।२"। यस्मात्सर्वविशेषवर्जितोऽतः। सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः सदैव ज्योतिरात्मचैतन्यस्वरूपेण समाधिः। समाधिनिमित्त प्रज्ञा-वगम्यत्वात्। समाधीयतेऽस्मिन्निति वा समाधिः। अचलोऽक्रियः। अत एवाभयो विक्रियाभावात् ॥३७॥

यस्माद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय इत्युक्तमतो न तत्र तस्मिन् ब्रह्मणि ग्रहो ग्रहणमुपादानं, नोत्सर्ग उत्सर्जनं हानं वा विद्यते। यत्र हि विक्रिया तद्विषयत्वं वा तत्र हानोपादाने स्यातां न तद्द्वय-

---

से भी कहा गया है जब कि वह सम्पूर्ण विषयों से रहित है। इसीलिये वह परमेश्वर अत्यन्त शान्त है। आत्मा चैतन्य स्वरूप से सर्वदा प्रकाशमान् है। समाधि के निमित्त से होने वाली प्रज्ञा से परमेश्वर की प्राप्ति होती है। इसीलिये वह समाधि कहा गया है, अथवा इस परमेश्वर में चित्त समाहित किया जाता है। अतः इसे समाधि कहते हैं। यह अचल और अविकारी है। अतएव विकारा-भाव के कारण ही यह अभय भी है ॥३७॥

क्योंकि ब्रह्म ही समाधिरूप अचल और अभय है, ऐसा पहले कहा गया है। इसीलिये उस ब्रह्म में न तो ग्रहण अर्थात् उपादान है, और न उत्सर्ग यानी उत्सर्जन रूप त्याग ही है। जहाँ विकार या विकार की योग्यता होती है, वहाँ ही ग्रहण और त्याग भी होते हैं। इसके विपरीत इस ब्रह्म में उन दोनों ग्रहण त्याग की संभावना

मिह ब्रह्मणि संभवति। विकारहेतोरन्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च। अतो न तत्र हानोपादाने इत्यर्थः। चिन्ता यत्र न विद्यते। सर्वप्रकारैव चिन्ता न संभवति यत्रामनस्त्वात्कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः। यदैवाऽऽत्मसत्यानुबोधो जातस्तदैवाऽऽत्मसंस्थं विषयाभावादग्न्युष्णावदात्मन्येव स्थितं ज्ञानम्। अजाति जातिवर्जितम्। समतां गतं परं साम्यमापन्नं भवति। यदादौ प्रतिज्ञातमतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतमितीदं तदुपपत्तितः शास्त्रतश्चोक्तमुपसंह्रियते। अजाति समतां गतमित्येतस्मादात्मसत्यानुबोधात्कार्पण्यविषयमन्यत्। 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'

तक नहीं, क्योंकि इसमें विकार का कारण कोई अन्य पदार्थ नहीं है और स्वयं तो वह निरवयव है। यदि ब्रह्म सावयव होता, तो उसमें विकार होने की संभावना की जा सकती थी। अतः विकार हेतु के अभाव होने से उसमें हान और उपादान संभव नहीं हैं जिसमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है, अर्थात् मनो रहित होने के कारण जिस ब्रह्म में किसी प्रकार की चिन्ता संभव ही नहीं। वहाँ भला ग्रहण और त्याग कैसे रह सकता है, यह इसका तात्पर्य है। जब शास्त्र आचार्य के उपदेशों द्वारा आत्मसत्य का बोध होता है, तब विषयाभाव हो जाने के कारण आत्मा में ही स्थित ज्ञान जन्म रहित और समता को वैसे ही प्राप्त हो जाता है, जैसे दाह्य वस्तु काष्ठ के अभाव हो जाने पर अग्नि समता को प्राप्त कर जाती है। इस प्रकरण के आदि में जो प्रतिज्ञा की गई थी, कि इसलिये मैं समानभाव को प्राप्त, अजन्मा और दीनता रहित वस्तु को बतलाऊँगा' उस पूर्वोक्त पदार्थ का ही यहाँ पर "अजाति समतां गतम्" इत्यादि वाक्य से शास्त्र द्वारा उपसंहार किया जाता है। इस आत्मसत्यानुबोध से भिन्न वस्तु दीनता से ग्रस्त है। ऐसा ही 'हे गार्गि! जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्म को आत्मभावेन जाने बिना ही इस लोक

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥३९॥

[सर्वं सम्बन्धरूप स्पर्श से रहित होने के कारण औपनिषद् अस्पर्श योग निस्सन्देह योगियों के लिये कठिनता से प्राप्त होता है। इस अभय पद में भी भय को देखने वाले योगि लोग इस अस्पर्श योग से भयभीत होते हैं ॥३९॥]

बृ० ३।८।१० इति श्रुतेः। प्राप्यैतत्सर्वः कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥३८॥

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्। अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसंबन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः, वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं

से चला जाता है, अर्थात मर जाता है वह दीन है" यह श्रुति भी बतला रही है। इस तत्त्व को प्राप्त कर सभी कृत कृत्य और ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं ॥३८॥

अस्पर्श योग दुर्गम है।

यद्यपि यह परमार्थतत्त्व ऐसा है, फिर भी यह अस्पर्श-योग नाम वाला है। क्योंकि इसमें सभी प्रकार के सम्बन्ध रूप स्पर्श का अभाव है। इसीलिये यह उपनिषदों में अस्पर्श-योग के नाम से प्रसिद्ध है। वेदान्त प्रतिपादित विज्ञान से रहित सभी योगियों द्वारा यह दुर्दर्श है, अर्थात् कठिनता से देखा जाता है। यह तो केवल आत्मसत्यानुबोध के लिये किये गये आयास से ही प्राप्त होने योग्य है। क्योंकि सम्पूर्ण भय से रहित होने पर भी कर्म निष्ठ वैदिक लोग इसमें भय करते हैं। वे इस अस्पर्श-योग को आत्मा का नाश

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिणाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥४०॥

[सभी द्वैतवादी योगियों का अभय, दुःखों का नाश, आत्म-बोध और मोक्ष नामक अक्षय शान्ति भी मनोनिग्रह के अधीन है ॥]

कुर्वन्ति । अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः ॥३९॥

येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूप व्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एवासिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथंचनेत्यवोचाम । ये त्वतोऽन्येयोगिनोमार्गगा हीन मध्य-मदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्म संबन्धि पशन्ति तेषामात्मस

स्वरूप समझते हैं । एवं भय शून्य भी इस योग में ये भय देखने वाले हैं । इसी भय के निमित्त आत्म नाश को देखने के कारण ये कर्मी अविवेकी कहे गये हैं, यह इसका तात्पर्य है ॥३९॥

द्वैतवादियों की शान्ति मनोनिरोध पर आधारित है

जो ब्रह्मस्वरूप से अतिरिक्त मन, इन्द्रिय आदि को रज्जु-सर्प की भाँति कल्पित मानते हैं, परमार्थतः जिनकी दृष्टि में ये वस्तु ही नहीं हैं उन ब्रह्मस्वरूप तत्त्ववेत्ताओं को भय शून्य और मोक्ष नामक अक्षय शान्ति स्वभाव से ही सिद्ध है किसी अन्य साधन के कारण से नहीं, इसे हम नोपचार कथंञ्चन" (उस तत्त्ववेत्ता के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है ।) इस वाक्य से पहले बतला आये हैं । इनसे भिन्न जो सन्मार्गगामी मन्द और मध्यम दृष्टि वाले योगी हैं, वे मन को आत्मा से भिन्न और आत्म सम्बन्धी मानते हैं । ऐसे आत्मसत्यानुबोध से शून्य सभी योगियों की निर्भयता मनोनिग्रह पर आधारित है, इतना ही नहीं, उनका

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥४१॥

[जैसे कुशा के अग्रभाग से एक-एक बूँद के द्वारा समुद्र को सुखाना (लम्बे धैर्य पूर्वक प्रयत्न से हो सकता है) ठीक वैसे ही खेद रहित (प्रयत्न शील) योगियों का मनोनिग्रह धैर्य से हो सकता है ॥४१॥]

त्यानुबोधरहितानां मनसोनिग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किञ्च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसंबन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्य-विवेकिनाम्। किञ्चाऽऽत्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव। तथाऽक्ष-याऽपिमोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव ॥४०॥

मनोनिग्रहोऽपि तेषामुदधेः कुशाग्रेणैकबिन्दुनोत्सेचनेन शोषण-व्यवसायवद्व्यवसायवतामनवसन्नान्तःकरणानामनिर्वेदादपरिखेदतो भवतीत्यर्थः ॥४१॥

दुःखनाश भी मनोनिरोधकाल तक ही रहता है। क्योंकि आत्म-सम्बन्धी मन के विचलित होने पर पुनः अविवेकियों का दुःख क्षय नहीं रह जाता है। विशेष क्या कहें उनका आत्मज्ञान भी मनो निरोध के अधीन है, एवं मोक्ष नामक अक्षय शान्ति भी मनो निरोध पर ही आधारित है अर्थात् वे साधक जब तक मनो निरोध किये रहेंगे तभी तक उन्हें अभय, दुःख क्षय, आत्मज्ञान और अक्षय शान्ति रहेगी ॥४०॥

मनोनिग्रह के लिये धैर्य की आवश्यकता।

कुश के अग्रभाग से एक एक बूँद करके समुद्र को सुखाने के लिये जैसा खेद रहित और प्रयत्न करने की आवश्यकता है, ऐसे ही खेद रहित चित्त, उद्यमशील होने पर उन योगियों के मन का निरोध भी खेद शून्य प्रयत्न से ही होता है, यह इसका तात्पर्य है ॥४१॥

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥४२॥

[काम और भोगरूप विषयों में विक्षिप्त चित्त का आगे कहे जाने वाले उपाय से निग्रह करे एवं लयावस्था में अत्यन्त आयास रहित चित्त का भी (निग्रह करे)। क्योंकि जिस प्रकार काम, अनर्थ का कारण है उसी प्रकार लय भी अनर्थ का कारण है ॥४२॥]

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्रमेव मनोनिग्रह उपायो नेत्युच्यते। अपरिखिन्नव्यवसायवान्सन्वक्ष्यमाणेनोपायेन कामभोगविषयेषु विक्षिप्तं मनो निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः । किंच लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो लयस्तस्मिल्लँये च सुप्रसन्नमायासवर्जितमपीत्येतन्निगृह्णीयादित्यनुवर्तते। सुप्रसन्नं चेत्कस्मान्निगृह्यत इति। उच्यते।

मनो निग्रह के उपाय।

तो फिर मनोनिग्रह का उपाय क्या खेद रहित प्रयत्न मात्र है? इस पर कहते हैं कि—ऐसी बात नहीं। खेद न मानकर निरन्तर प्रयत्न-शील पुरुष आगे कहे जाने वाले उपाय से काम और भोग रूप विषयों में विक्षिप्त हुए मन को अपनेवश में करे अर्थात् उसे आत्मा में ही निरुद्ध करते रहे और जिस समय चित्तलीन हो जाता है, उस सुषुप्तावस्था को लय कहा गया है। उस लयावस्था में आयास रहित स्थिति में अत्यन्त प्रसन्नचित्त का भी विवेक पूर्वक निरोध करें। यहाँ निगृह्णीयात्" इस पाद की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यदि कहो कि जब चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो तो फिर उसका निग्रह ही क्यों किया जाय? इस पर कहते हैं—क्योंकि जैसे काम अनर्थ का कारण है वैसे हीं कालक्षेप का हेतु होने से लय भी अनर्थ का कारण है। अतः जैसे कामासक्त मन को निग्रह करना आवश्यक है, वैसे

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥४३॥

[(अविद्या से प्रतीत होने वाला) सम्पूर्ण द्वैत दुःख रूप है, ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए इच्छाजनित भोग से (वैराग्य द्वारा हटावे) पुनः सदा सभी वस्तुओं को अजन्मा ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर किसी द्वैतजात को नहीं देखता है ॥४३॥

यस्माद्यथाकामोऽनर्थहेतुस्तथा लयोऽपि । अतः कामविषयस्य मनसो ग्रहवल्लयादपि निरोद्धव्यमित्यर्थः ॥४२॥

कः स उपाय इति । उच्यते—सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगात्कामनिमित्तो भोग इच्छाविषयस्तस्माद्विप्रसृतं मनो निवर्तयेद्वैराग्यभावनयेत्यर्थः । अजं ब्रह्म सर्वमित्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतोऽनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति । अभावात् ॥४३॥

ही लय से भी मन को विवेक पूर्वक निरुद्ध करना आवश्यक है, यह इसका तात्पर्य है ॥४२॥

वह उपाय क्या है? इस पर कहते हैं—अविद्या का विलास सम्पूर्ण द्वैत दुःखरूप ही है ऐसा स्मरण कर काम निमित्तक भोग से अर्थात इच्छा के विषय से विषयासक्त मन को वैराग्य भावना द्वारा लौटा लेवे । सभी वस्तु अजन्मा ब्रह्म स्वरूप है, इस प्रकार शास्त्र आचार्य के उपदेश का अनुस्मरण कर सदा अद्वैत का चिन्तन करे । इसके विपरीत द्वैत वस्तु का बाध हो जाने के कारण वास्तव में वह है नहीं, ऐसा देखे ॥४३॥

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥४४॥

[(इस प्रकार बारम्बार अभ्यास द्वारा) लयावस्था में गये हुए चित्त को सावधान करे। पुनः विषयों में विक्षिप्त चित्त को शान्त करे, (और इन दोनों की अन्तरालावस्था में रहने से) चित्त राग युक्त हो रहा हो, तो उसे भी समझे और यत्नपूर्वक समता को प्राप्त हुए चित्त को विषयाभिमुख न होने दे ॥४४॥

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते लीनं संबोधयेन्मनः। आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत्। चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम्। विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः। एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात्। ततोऽपि यत्नतः

इस प्रकार ज्ञानाभ्यास और वैराग्य इन पूर्वोक्त दोनों उपायों से सुषुप्ति में लीन हुए मन को संबोधित करे अर्थात् आत्मा के विवेक विज्ञान द्वारा आत्मा में मन को लगावे। चित्त और मन दोनों का एक ही अर्थ है, एवं काम तथा भोग में विक्षिप्त चित्त को पुनः शान्त करे। इस प्रकार पुनः पुनः लयावस्था से संबोधित और विषयों से निवृत्त किया हुआ चित्त अन्तरालावस्था (मध्य की दशा) में स्थित होकर यदि समता को प्राप्त न हो रहा हो, तो ऐसा समझना चाहिए, कि इस समय मन राग से युक्त यानी बीजावस्था से संयुक्त हो रहा है। उस अवस्था से भी यत्न पूर्वक मन को साम्यावस्था में स्थित करें, अर्थात् संप्रज्ञात समाधि के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करे। किन्तु जिस समय चित्त असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त हो जाय, यानी समता प्राप्ति के अभिमुख हो जावे, तो उस अवस्था में से उसे विचलित अर्थात् विषयाभिमुख न करे। निर्विशेष वस्तु की

नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकी कुर्यात्प्रयत्नतः ॥४५॥

[(निर्विकल्पक समाधि की इच्छा वाले योगी उस साम्यावस्था में प्राप्त हुए) सुख का आस्वादन न करे, बल्कि विवेकवतीबुद्धि के द्वारा उसमें मिथ्यात्त्व भावना करते हुए निस्संग रहे। फिर यदि किसी कारण से चित्त बाहर जावे तो उसे प्रयत्न पूर्वक निश्चल तथा समाहित करे ॥४५॥

साम्यमापादयेत् । यदा तु समप्राप्तं भवति । समप्राप्त्यभिमुखी भवतीत्यर्थः । ततस्तन्न विचालयेद्विषयाभिमुखं न कुर्यादित्यर्थः ॥४४॥

समाधित्सतो योगिनो यत्सुखं जायते तन्नाऽऽस्वादयेत् । तत्र न रज्येतेत्यर्थः । कथं तर्हि । निःसङ्गो निःस्पृहः प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तदविद्यापरिकल्पितं मृषैवेति विभावयेत् । ततोऽपि सुखरागान्निगृह्णीयादित्यर्थः । यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं निश्चलस्वभावं सन्निश्चरद्बहिर्निर्गच्छद्भवति चित्तं ततस्ततो नियम्योक्तोपा-

---

प्राप्ति के लिये असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुए चित्त को विषयाभिमुख न करे। यह इसका तात्पर्य है ॥४४॥

असंप्रज्ञात समाधि चाहने वाले योगी को समाधि काल में जो सुख उत्पन्न होता है, उसका आस्वादन न करे, यानी उसमें अनुरक्त न हो। तो फिर क्या करे ? उस समाधि जन्य सुख से निःसङ्ग (निःस्पृह) होकर विवेक बुद्धि रूप प्रज्ञा से उसे मिथ्या समझे अर्थात् ऐसी भावना करे कि जो सुख इस समय हमें प्राप्त हो रहा है, वह अविद्या कल्पित मिथ्या ही है। भाव यह है कि उस सुख के राग से भी चित्त को निरूद्ध कर लेवे। जब समाधि जन्य सुख के राग से निवृत्त होकर निश्चल स्वभाव को प्राप्त हुआ चित्त समाधि से बाहर निकलने लगे, तो उसे पहले के बतलाए गए उपाय से वहाँ से

यदा न लीयते चित्त न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥४६॥

[(उक्त उपाय से निग्रहीत) चित्त जब सुषुप्ति में लीन न हो और न फिर विषयों में ही विक्षिप्त हो तथा (निवात स्थान में स्थित दीपक के समान) निश्चल एवं कल्पित विषय के प्रकाश से रहित हो जाय, तो उस समय चित्त ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ॥४६॥]

येनाऽऽत्मन्येवैकी कुर्यात्प्रयत्नतः। चित्स्वरूपसत्तामात्रमेवाऽऽपादयेदित्यर्थः ॥४५॥

यथोक्तेनोपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते अनिङ्गनमचलं निवातप्रदीपकल्पम्। अनाभासं न केनचित्कल्पितेन विषयभावेनावभासत इति। यदेवंलक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं ब्रह्म। ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥४६॥

भी रोक कर प्रयत्न पूर्वक आत्मा में एकाग्र करे, अर्थात् संप्रज्ञात समाधि द्वारा असंप्रज्ञात समाधि से युक्त चित्त को परिपूर्ण ब्रह्म के साथ तादात्म्य करे। अभिप्राय यह है कि उसे चेतन स्वरूप सत्तामात्र से ही सम्पन्न होने देवे ॥४५॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए मन की पहिचान ।

पूर्वोक्त ज्ञानाभ्यासादि उपायों से निग्रह किया हुआ चित्त जब सुषुप्ति में लीन नहीं होता, और न पुनः विषयों में ही विक्षिप्त ही होता है। तब वायु रहित स्थान में स्थित दीपक की भाँति निश्चल यानी रागादि वासना शून्य तथा किसी भी कल्पित विषय भाव से प्रकाशित नहीं होता। जिस समय इस प्रकार का चित्त हो जाता है, उस समय वह ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है, अर्थात् उस अवस्था में चित्त ब्रह्म स्वरूप से ही निष्पन्न हो जाता है ॥४६॥

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् ।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ॥४७॥

[ब्रह्मतत्त्वदर्शी पुरुष उस अवस्था में प्रतीत होनेवाले आनन्द को) स्वस्थ, शान्त, कैवल्य युक्त, अकथनीय, निरतिशय सुख स्वरूप, उत्पत्ति रहित अजन्मा ब्रह्म से अभिन्न और सर्वज्ञ कहते हैं ॥४७॥]

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं स्वात्मनि-स्थितम् । शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम् । सनिर्वाणं निवृत्तिर्निर्वाणं कैवल्यं सह निर्वाणेन वर्तते । तच्चाकथ्यं न शक्यते कथयितुम् । अत्यन्तासाधारणविषयत्वात् सुखमुत्तमं निरतिशयं हि तद्योगिप्रत्यक्ष-मेव । न जातमित्यजं तथा विषयविषयम् । अजेनानुत्पन्नेन ज्ञेयेना-व्यतिरिक्तं सत्स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते कथ-यन्ति ब्रह्मविदः ॥४७॥

पूर्वोक्त आत्मसत्यानुबोध रूप पारमार्थिक सुख स्वस्थ यानी अपने स्वरूप में ही स्थित, शान्त अर्थात् सभी प्रकार से अनर्थनिवृत्ति रूप एवं सनिर्वाण है । निर्वाण कैवल्य को कहते हैं, ऐसे निर्वाण के सहित जो हो उसे सनिर्वाण कहते हैं । एवं 'अकथ्यम' जो कहा न जा सके यानी अकथनीय है, क्योंकि वह अत्यन्त असाधारण वस्तु को विषय कर रहा है । केवल योगियों से ही प्रत्यक्ष के योग्य होने से वह उत्तम अर्थात् निरतिशय सुख है, एवं उत्पन्न न होने के कारण अज है । जैसे विषयजन्य सुख उत्पन्न होता है, वैसा यह सुख नहीं है । अजन्मा ज्ञेय से अभिन्न होने के कारण अपने सर्वज्ञ रूप से स्वयं ब्रह्म ही उक्त सुख है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं ॥४७॥

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥४८॥

[(किसी प्रकार से भी) कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। जिस सत्यस्वरूप ब्रह्म में कोई वस्तु अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती, यह सर्वोत्तम सत्य है ॥४८॥]

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिमृल्लोहादिवत्सृष्टिरुपासना चोक्ता परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति। परमार्थसत्यं तु न कश्चिजायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण। अतः स्वभावतोऽजस्यास्यैकस्याऽऽत्मनः संभवः कारणं न विद्यते नास्ति। यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं तस्मान्न कश्चिज्जायते जीव

परमार्थ सत्य का निरूपण

यदि मनोनिग्रहादि उपाय पारमार्थिक हैं तो अद्वैत की हानि होती है, और यदि ये अपारमार्थिक हैं तो अद्वैत का बोध न हो सकेगा। अतः इनकी व्यावहारिक सत्ता मानकर समाधान दे रहे हैं—कि मृत्तिका और लोहादि की भाँति ये मनोनिग्रहादि सम्पूर्ण प्रपञ्च, सृष्टि तथा उपासना परमार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिये साधन रूप से बतलाए गये हैं। अतः ये परमार्थ सत्य नहीं है। परमार्थ सत्य तो यह है, कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता, यानी किसी भी प्रकार से कर्त्ता भोक्ता उत्पन्न होता ही नहीं। अतः स्वभाव से ही एक अजन्मा आत्मा की उत्पत्ति का कोई कारण है ही नहीं, जब कि इसका कोई कारण नहीं है। इसीलिये कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता है। पहले श्लोकों में उपाय रूप से बतलाए गए व्यावहारिक सत्यों में भी यही सर्व श्रेष्ठ सत्य है। जिस त्रिकालाबाधित सत्य

इत्येतत् । पूर्वेषूपायत्वेनोक्तानां सत्यानामेतदुत्तमं सत्यं यस्मिन्सत्यस्वरूपे ब्रह्मण्यणुमात्रमपि किंचिन्न जायत इति ॥४८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतौ गौडपादीयभाष्य आगमशास्त्रविवरणेऽद्वैताख्यतृतीय प्रकरणभाष्यं समाप्तम् ॥३॥

ॐ तत्सत्

—०*०—

स्वरूप ब्रह्म में कुछ भी वस्तु अणुमात्र उत्पन्न नहीं होती। भाष्य में आया 'इति' शब्द अद्वैत प्रकरण समाप्ति का द्योतक है ॥४८॥

इस प्रकार माण्डूक्य कारिका अद्वैत प्रकरण शाङ्कर भाष्य की विद्यानन्दी मिताक्षरा समाप्त हुई ॥ ३ ॥

—०*०—

अथालातशान्त्याख्यं चतुर्थप्रकरणम्

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥१॥

[ज्ञेय (आत्मतत्त्व) से अभिन्न आकाशतुल्य ज्ञान के द्वारा आकाश सदृश जीवों को जिसने जाना है, उस पुरुषोत्तम नारायण को मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥]

ओंकारनिर्णयद्वारेणाऽऽगमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य बाह्यविषयभेदवैतथ्याच्च सिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षान्निर्धारितस्यैतदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतः अन्तेतस्यैतस्याऽऽगमार्थस्याद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशिकाश्च तेषां चान्योन्यविरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम । क्लेशानास्पदत्वात्सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनं स्तूयते । तदिह विस्तरेणान्योन्यविरुद्धतयाऽसम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शनसिद्धि-

---

॥ अथ अलातशान्ति प्रकरण ॥

अद्वैत-दर्शन तथा सम्प्रदायाचार्य की वन्दना

आगम प्रकरण में ओंकारके निर्णयद्वार जिस अद्वैत की प्रतिज्ञा की गई थी । उसी को वैतथ्य प्रकरण में बाह्यविषय भेद के मिथ्यात्व प्रतिपादन द्वारा सिद्ध किथा । पुनः अद्वैत प्रकरण में शास्त्र तथा युक्ति द्वारा अद्वैत को निश्चित किया और अन्त में "एतदुत्तम सत्यम्" (यही सर्वोत्तम सत्य है) ऐसा कह कर निर्धारित अर्थ का उपसंहार किया । वेद के तात्पर्य रूप इस अद्वैत दर्शन के विरोधी जो भी द्वैतवादी और बौद्धादि हैं । उनके दर्शन परस्पर विरोधी होने के कारण राग-द्वेषादि क्लेशों के केन्द्र हैं । इसीलिये उनमें मिथ्यादर्शनत्व सूचित होता है । इसके विपरीत राग-द्वेषादि क्लेशों

रूपसंहर्तव्याऽऽवीतन्यायेनेत्यलातशान्तिरारभ्यते। तत्राद्वैतदर्शनं संप्रदायकर्तुरद्वैतस्वरूपेणैव नमस्कारार्थोऽयमाद्यश्लोकः आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थेष्यते शास्त्रारम्भे। आकाशेनेषदसमाप्तमाकाशम (कल्पमाकाशतुल्यमेतत्। तेनाऽऽकाशकल्पेन ज्ञानेन, किम, धर्मा-नात्मनः किंविशिष्टान्गगनोपमान्गगनमुपमा येषां ते गगनोपमास्ता-नात्मनो धर्मान्। ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्—ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्न-मग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ज्ञानं तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेनाऽऽकाश-कल्पेन ज्ञेयात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन गगनोपमान्धर्मान्यः संबुद्धः संबुद्धवानित्ययमेवेश्वरो यो नारायणाख्यस्तंवन्देऽभिवादये द्विपदां

का आश्रय न होने के कारण अद्वैत दर्शन ही यथार्थ दर्शन है। इस प्रकार अद्वैत दर्शन की स्तुति हो जाती है। अब इस प्रकरण में परस्पर विरोधी होने के कारण अद्वैत विरोधी दर्शनों में विस्तार पूर्वक असम्यक्-दर्शनत्त्व दिखलाकर उनके निषेध द्वारा व्यतिरेकि-अनुमान से अद्वैतदर्शनसिद्धि का उपसंहार करना है। इसी अभि-प्राय से "अलात शान्ति प्रकरण" प्रारंभ किया जा रहा है। उसमें अद्वैत दर्शन संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को अद्वैत रूप से ही नमस्कार करने के लिये यह पहला श्लोक है, क्योंकि शास्त्र के प्रारंभ में आचार्य की पूजा निर्विघ्न ग्रन्थ परिसमाप्ति रूप अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये इष्ट ही है।

सर्वथा आकाश के समान तो नहीं, किन्तु आकाश की अपेक्षा न्यून होने से जिसे आकाश तुल्य कहते हैं। उस आकाश कल्प ज्ञान से किसे क्या करना है? आत्मरूप धर्मों को जानता है। वे किस प्रकार के धर्म हैं? आकाश ही जिनकी उपमा हो, उन्हें गगनोपम कहते हैं, ऐसे गगनोपम आत्मधर्मों को जो जानता है। पुनः ज्ञान के विशेषण देते हैं अग्नि से जैसे उष्णता और सूर्य से जैसे प्रकाश अभिन्न है, वैसे ही जो ज्ञान ज्ञेय धर्म रूप आत्माओं से अभिन्न है।

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥२॥

[(जिस योग का किसी से सम्बन्ध नहीं है और जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिये सुखावह है एवं जिसमें किसी का विरोध और विवाद नहीं है) ऐसे सम्पूर्ण प्राणियों के सुखप्रद, हितकर निर्विवाद और सबके अविरोधी जिस अस्पर्श योग का उपदेश किया गया है, उसे भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥]

वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः । उपदेष्टृनमस्कारमुखेणज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रतिज्ञातं भवति ॥१॥

अधुनाऽद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारस्तत्स्तुतये । स्पर्शनं स्पर्शः संबन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाऽपि सोऽस्पर्शयोगो

उस ज्ञेय आत्मा के स्वरूप से अभिन्न आकाशतुल्य ज्ञान से जिसने आकाश तुल्य धर्मों को सर्वदा ही अच्छी प्रकार से जाना है, वही जो ईश्वर नारायण नाम से प्रसिद्ध है (दो पदों से उपलक्षित पुरुषों में श्रेष्ठ उसी पुरुषोत्तम की वन्दना करता हूँ । उपदेष्टा को नमस्कार व्याज से यह प्रतिज्ञा की जाती है कि इस प्रकरण में सिद्धान्त विरुद्ध पक्ष प्रतिषेध द्वारा ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता भेद से रहित परमार्थ दर्शन बतलाना ही अभीष्ट है ॥१॥

अब अद्वैत दर्शन योग को उसकी स्तुति के लिये नमस्कार किया जाता है ।

जिस योग का किसी से कभी भी स्पर्श यानी सम्बन्ध नहीं है, उसे अस्पर्श योग कहते हैं । वस्तुतः वह ब्रह्मस्वरूप ही है । यह ब्रह्मवेत्ताओं का अस्पर्श-योग अत्यन्त प्रसिद्ध है, इसी प्रसिद्धि के द्योतन के लिये 'वै' और 'नाम' इन दो अव्ययों का प्रयोग किया गया है ।

ब्रह्मस्वभाव एव, वै नामेति ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः। स च सर्वसत्त्वसुखो भवति। कश्चिदत्यन्तसुखसाधनविशिष्टोऽपि दुःखरूपः, यथा तपः। अयं तु न तथा। किं तर्हि सर्वसत्त्वानां सुखः। तथेह भवति कश्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः। अयं तु सुखो हितश्च। नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात् किं चाविवादो विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते सोऽविवादः। कस्मात्। यतोऽविरुद्धश्च य ईदृशो योगो देशित उपदिष्टः शास्त्रेण तं नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थः ॥ २ ॥

वह योग सभी प्राणियों के लिये सुखावह है। कोई-कोई पदार्थ अत्यन्त सुख साधन विशिष्ट होता हुआ भी दुःखरूप होता है अर्थात् फल रूप से अत्यन्त सुख विशिष्ट है, पर साधन काल में दुःखरूप प्रतीत होता है। जैसा कि तप किन्तु यह योग ऐसा नहीं है। तो फिर कैसा है ? यह साधन रूप तथा फल रूप दोनों प्रकार से सभी प्राणियों के लिये सुखकारक ही है।

वैसे ही इस लोक में कोई-कोई विषय भोग सेवन काल में सुखावह होता हुआ भी फल रूप से हितकर नहीं होता, किन्तु यह तो सदा अचल स्वभाव होने के कारण साधन रूप से सुखप्रद और फलरूप से भी हितकर है। इतना ही नहीं, यह योग निर्विवाद भी है। जिसमें पक्ष प्रतिपक्ष ग्रहण द्वारा विरुद्ध वदन रूप विवाद नहीं होता, उसे निर्विवाद कहते हैं। ऐसा यह क्यों है ? क्योंकि यह किसी के विरुद्ध नहीं है। आत्मप्रकाश किसी का विरुद्ध नहीं होता। शास्त्र द्वारा इस प्रकार का जो योग बतलाया गया है उस योग को मैं नमस्कार यानी प्रणाम करता हूँ ॥२॥

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥३॥

[कुछ सांख्य मतावलम्बी द्वैतवादी हि विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं, (इनके विपरीत नैयायिकादि) पाण्डित्याभिमानी अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसे परस्पर विवाद करते हुए एक दूसरे को जीतना चाहते हैं ॥ ३ ॥]

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्त इति। उच्यते। भूतस्य विद्यमानस्य वस्तुनो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि सांख्याः। न सर्व एव द्वैतिनः। यस्मादभूतस्याविद्यमानस्यापरे वैशेषिका नैयायिकाश्च धीरा धीमन्तः प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थः। विवदन्तो विरुद्धं वदन्तो ह्यन्योन्यमिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

द्वैत वादियों का परस्पर विरोध

अच्छा तो द्वैतवादी परस्पर विरोध कैसे करते हैं ? इस पर कहते हैं—

सभी द्वैतवादी नहीं, किन्तु कोई-कोई सांख्यमतावलम्बी सत्कार्य वादी भूत (विद्यमान) वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। इनके विपरीत दूसरे पाण्डित्याभिमानी असत्कार्यवादी वैशेषिक और नैयायिक अभूत् अर्थात् अविद्यमान् वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भाषण करते हुए वे एक दूसरे को जीतने की इच्छा करते हैं। इसीलिये इनका परस्पर विरोध है, यही इसका तात्पर्य है ॥३॥

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥४॥

[कोई भी विद्यमान वस्तु (विद्यमान होने के कारण) ही उत्पन्न नहीं होती हैं (ऐसा कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग कहते हैं कि शशश्रृङ्ग के समान) असद् वस्तु का जन्म नहीं होता। इस प्रकार परस्पर विवाद करने वाले ये वास्तव में अद्वैत वादी ही है, क्योंकि ये अजातवाद का ही उक्तरीत्या समर्थन करते हैं ॥४॥]

तैरेवं विरुद्धवदनेनान्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं ख्यापितं भवतीति। उच्यते। भूतं विद्यमानं वस्तु न जायते किंचिद्विद्यमानत्वादेवाऽऽत्मवदित्येवं वदन्नसद्वादी सांख्यपक्षं प्रतिषेधति सज्जन्म। तथाऽभूतमविद्यमानमविद्यमानत्वान्नैव जायते शशविषाणवदित्येवं वदन्सांख्योऽप्यसद्वादिपक्षमसज्जन्म प्रतिषेधति। विवदन्तो विरुद्धं वदन्तोऽद्वया द्वैतिनोऽप्येतेऽन्योन्यस्य पक्षौ सदसतोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तोऽजातिमनुत्पत्तिमर्थात्ख्यापयन्ति प्रकाशयन्ति ते ॥ ४ ॥

परस्पर भाषण द्वारा एक दूसरे के खण्डन करने वाले उन वादियों द्वारा कौन सा सिद्धान्तबतलाया जाता है। इस पर कहते हैं—

कोई भी विद्यमान वस्तु इसलिये उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वह आत्मा के समान पहिले से ही विद्यमान है। इस प्रकार बोलता हुआ असत्कार्यवादी नैयायिकादि, सत्कार्यवादी सांख्य पक्ष का खण्डन करते हैं। वैसे ही शशश्रृङ्ग के समान अविद्यमान् वस्तु का जन्म नहीं होता, क्योंकि वह सदा अविद्यमान ही हैं। ऐसा कहते हुए सत्कार्यवादी सांख्य असत्कार्यवादी वैशेषिकादि पक्ष का खण्डन करते हैं। इस प्रकार ये परस्पर विरुद्ध बोलते हुए अजातवाद को ही प्रकाशित करते हैं। वस्तुतः ये अद्वैतवादी ही हैं। जब

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ ५ ॥

[उन द्वैतवादियों द्वारा बतलायी गयी अजातिका, हम् (ऐसा ही हो इस प्रकार केवल) अनुमोदन करते हैं उनके साथ विवाद नहीं करते। (अतः हे शिष्यों ! हमारे उपदेश किये हुए) उस विवाद रहित परमार्थ दर्शन को तुम भली प्रकार समझ लो ॥ ५ ॥]

तैरेवं ख्याप्यमानामजातिमेवमस्त्वित्यनुमोदामहे केवलं न तैः सार्धं विवदामः पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन। यथा तेऽन्योन्यमित्यभिप्रायः। अतस्तमविवादं विवादरहितं परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिर्निबोधत हे शिष्याः ॥ ५ ॥

सत् कार्यवाद मिथ्या है और असत्कार्यवाद भी मिथ्या है। इस प्रकार एक दूसरे के पक्ष सत् के जन्म का और असत् के जन्म का खण्डन करते हुए अर्थतः अद्वैतवाद का ही समर्थन करते हैं ॥४॥

द्वैतवादियों के साथ अद्वैतवादियों का विरोध नहीं

इस प्रकार उनके द्वारा प्रकाशित अजातिवाद का हम 'यह ऐसा ही है' ऐसा कहकर केवल अनुमोदन करते हैं। तात्पर्य यह कि पक्ष प्रतिपक्ष ग्रहण पूर्वक हम उनके साथ विवाद नहीं करते, जैसे कि वे परस्पर विवाद करते रहते हैं। अतः हे शिष्यो ! उस विवाद रहित हमारे द्वारा बतलाए गए परमार्थ दर्शन को अच्छी प्रकार तुम समझ लो ॥५॥

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ ६ ॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥७॥

[(कुछ उपनिषद् व्याख्याता) द्वैतवादी अजन्मा आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थतः सिद्ध करना चाहते हैं। पर भला जो पदार्थ स्वभाव से अजन्मा और अमर है, वह अमर शीलता को कैसे प्राप्त हो सकेगा ॥ ६ ॥]

[लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील अमर नहीं होती क्योंकि कोई भी वस्तु अपनेस्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है ॥ ७ ॥]

सदसद्वादिनः सर्वेऽपीति । पुरस्तात्कृतभाष्यः श्लोकः ॥ ६ ॥

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षाणामन्योन्यविरोधख्यापितानुमोदनप्रदर्शनार्थः ॥७।८॥

इस श्लोक में आये हुए वादी पद से सभी सत्कार्यवादी और असत्कार्यवादी का ग्रहण करना अभीष्ट है। इसका भाष्य अद्वैत प्रकरण ३० वें श्लोक में पहले किया जा चुका है ॥६॥

जिनका अर्थ पहले बतलाया जा चुका है, ऐसे ऊपर कहे गये तीन श्लोकों का उल्लेख इस प्रकरण में विपक्षी वादियों के परस्पर विरोध से प्रकाशित अजातवाद का अनुमोदन दिखलाने के लिये किया गया है ॥७।८॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥८॥
सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥९॥

[जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मर्त्य भाव को प्राप्त होता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतिजन्य होने के कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (अमृत स्वभाव भी) कैसे हो सकता है ॥८॥]

[जो सम्यक सिद्धि द्वारा प्राप्त (कभी भी विपरीत न होनेवाली अग्नि की उष्णता के समान) स्वभाव सिद्धा पक्षी के आकाश गमन सामर्थ्य के समान जन्मजात, जल के निम्नप्रदेश में गति के समान अकृता है और कभी अपने स्वभाव को छोड़ती नहीं है । बस ? यही प्रकृति है (ऐसी प्रकृति का विपर्यय अज स्वभाव परमार्थतत्त्व में कैसे हो सकेगा ॥ ९ ॥]

यस्माल्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न विपर्येति काऽसावित्याह—सम्यक्सिद्धिः संसिद्धिस्तत्र भवा सांसिद्धिको यथा योगिनां सिद्धानामणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः सा भूतभविष्यत्कालयोरपि योगिनां न विपर्येति तथैव सा । तथा स्वाभाविकी द्रव्यस्वभावत एवसिद्धा, यथाऽग्न्यादीनामुष्णप्रकाशादिलक्षणा, साऽपि न कालान्तरे व्यभि-

---

जब कि लौकिकी प्रकृति का भी विपर्यय नहीं होता तो भला पारमार्थिकि प्रकृति का विपर्यय कैसे हो सकेगा । पर वह प्रकृति है क्या चीज ? इस पर कहते हैं—

अंगों के सहित योग का अनुष्ठान परिसमाप्ति को संसिद्धि कहते हैं यानी सम्यक् सिद्धि । उस सम्यक् सिद्धि में होने वाली को सांसिद्धिकी कहते हैं । जैसे सिद्ध योगियों को अणिमादि ऐश्वर्य की

चरति देशान्तरे वा। तथा सहजाऽऽत्मना सहैव जाता यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा। अन्याऽपि या काचिदकृता केनचिन्न कृता यथाऽपां निम्नदेशगमनादिलक्षणा। अन्याऽपि या काचित्स्वभावं न जहाति सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया लोके। मिथ्याकल्पितेषु लौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति किमुताजस्वभावेषु परमार्थवस्तुष्वमृतत्वलक्षणा प्रकृतिर्नान्यथा भवतीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

प्राप्ति, उनकी प्रकृति है। इसी को सांसिद्धिकी कहते हैं। वह सांसिद्धिकी योगियों की प्रकृति भूत तथा भविष्यत् काल में भी विपरीत भाव को प्राप्त नहीं होती, किन्तु जैसी की तैसी रहती है। वैसे ही वस्तु के स्वभाव से सिद्ध प्रकृति को स्वाभाविकी कहते हैं। यथा अग्नि आदि की उष्णता एवं प्रकाश आदि रूपता प्रकृति स्वाभाविकी मानी जाती है, क्योंकि वह भी कालान्तर और देशान्तर में व्यभिचरित नहीं होती। एवं अपने साथ उत्पन्न होने वाली प्रकृति सहजा मानी गई है। यथा पक्षी आदि की आकाशगमन-रूपा प्रकृति सहजा कही गई है। और भी जो कोई किसी के द्वारा बनाई नहीं गई हो, तो उसे अकृता-प्रकृति कहते हैं। जैसे की जल की निम्न प्रदेश की ओर जाना रूप प्रकृति अकृता है। ऐसे ही इसके अतिरिक्त भी कोई अपने स्वभाव को छोड़ती नहीं है तो वह सभी प्रकृति नाम से ही लोक में जानने योग्य है। जब मिथ्या कल्पित लौकिक वस्तुओं में भी प्रकृति अन्यथा भाव को प्राप्त नहीं होती, फिर भला अज स्वभाव परमार्थ वस्तुओं में अमरत्वरूपा प्रकृति विपरीत भाव को प्राप्त नहीं हो सकती है। इसमें तो कहना ही क्या है? इस प्रकार कैमुतिक न्याय से अजन्मा आत्मा की प्रकृति के अन्यथा भाव का निषेध किया गया है, यह इसका तात्पर्य है ॥९॥

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥१०॥

[जरा मरणादि सम्पूर्ण विकारों से रहित स्वभाव से समस्त प्राणी है, ऐसे वस्तु में जरामरण मानने वाले लोग इस विपरीत चिन्तन के कारण (तद्भाव भावित हो) अपने स्वभाव से विचलित हो जाता है ॥ १० ॥

किंविषया पुनः सा प्रकृतिर्यस्या अन्यथाभावो वादिभिः कल्प्यते कल्पनायां वा को दोष ? इत्याह–जरामरणनिर्मुक्ताः । जरामरणादि-सर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः । के ? ते । सर्वे धर्माः सर्व आत्मन इत्ये-तत्स्वभावतः प्रकृतितः एवंस्वभावाः सन्तो धर्मा जरामरणमिच्छन्त इच्छन्त इवेच्छन्तो रज्ज्वामिव सर्पमात्मनि कल्पयन्तश्च्यवन्ते स्व-भावतश्चलन्तीत्यर्थः । तन्मनीषया जन्मरणचिन्तया तद्भावभावि-तत्वदोषेणेत्यर्थः ॥१०॥

जीव के जरादि मानने में दोष है

वादियों के द्वारा जिसके अन्यथा भाव की कल्पना की जाती है, वह प्रकृति कैसी है और उसकी कल्पना में दोष क्या है ? इस पर कहते हैं—

जरामरणादि समस्त विकारों से रहित को जरामरण निर्मुक्त कहते हैं। वे कौन हैं ? सम्पूर्ण धर्म यानी जीवात्मा स्वभाव से ही जरामरण निर्मुक्त हैं। ऐसे स्वभाव वाले होने पर भी जरामरण की इच्छा के समान इच्छा करने लगे हैं अर्थात् रज्जु में सर्प की भाँति आत्मा में जरामरण की कल्पना करते हुए ये जीव अपने स्वभाव से च्युत हो जाते हैं यानी जरामरण की चिन्ता से तद्भाव भावित होना रूप दोष के कारण अपने स्वभाव से वे गिर जाते हैं ॥१०॥

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥११॥

[जिस (सांख्य मतावलम्बी के) मत में मृत्तिका के समान कारण ही कार्य है । उसके सिद्धान्तानुसार प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ भी महदादि रूप से उत्पन्न होता है । इस पर यदि वह जन्मने वाला हो तो भला अज कैसे होगा और विकृत होने वाला वह नित्य भी कैसे हो सकता है ॥११॥]

कथं सज्जातिवादिभिः सांख्यैरनुपपन्नमुच्यत इत्यत आह वैशेषिकः । कारणं मृद्वदुपादानलक्षणं यस्य वादिनो वै कार्यं कारणमेव कार्याकारेण परिणमते यस्य वादिन इत्यर्थः । तस्याजमेव सत्प्रधानादि कारणं महादादि कार्यरूपेण जायत इत्यर्थः । महदाद्याकारेण चेज्जायमानं प्रधानं कथमजमुच्यते तैर्विप्रतिषिद्धं चेदं जायतेऽजं चेति । नित्यं च तैरुच्यते । प्रधानं भिन्नं विदीर्णं स्फुटितमेकदेशेन

सांख्यों पर वैशेषिकों का प्रहार

सत्कार्यवादी सांख्यों का कहना असंगत है, यह कैसे समझा जाय ? इस पर वैशेषिक कहता है—

जिस वादी के मत में मिट्टी की भाँति उपादान कारण ही कार्य रूप है अर्थात् कारण ही कार्य रूप से परिणत हो जाता है । ऐसा जिसका सिद्धान्त है । उसके मतानुसार यही सिद्ध होता है कि प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ महदादि कार्यरूप से जन्मता है । पर महदादि रूप से यदि प्रधान को उत्पन्न होने वाला माना जाय, तो वे उसे अजन्मा कैसे कहते हैं । उत्पन्न होता है एवं अजन्मा भी है, ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है । इसके अतिरिक्त प्रधान को वे नित्य भी कहते हैं । जो वस्तु एक देश से विदीर्ण

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि ।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥१२॥

[यदि अजन्मा कारण से कार्य का अभेद है (तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि) कार्य भी अजन्मा है और यदि ऐसी स्थिति है तो उत्पन्न होने वाले कार्य से अभिन्न उसका कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकता है ॥१२॥]

सत्कथं नित्यं भवेदित्यर्थः । न हि सावयवं घटादि एकदेशस्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोक इत्यर्थः । विदीर्णं च स्यादेकदेशेनाजं नित्यं चेति । एतद्विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः ॥११॥

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह—कारणादजात्कार्यस्य यद्यनन्यत्वमिष्टं त्वया ततः कार्यमज मिति प्राप्तम् । इदं चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजं चेति तव । किञ्चान्यत्कार्यकारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणमनन्यन्नित्यं ध्रुवं च ते कथं भवेत् । न हि कुक्कुट्या एकदेशः पच्यत एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते ॥१२॥

यानी विकृत हो गया हो, वह फिर नित्य कैसे हो सकता है । भाव यह है कि सावयव घटादि पदार्थ जो एक देश में फूटने वाले हैं वे लोक में कभी भी नित्य नहीं देखे गए हैं अर्थात् वे अपने देश में विकृत होते हैं । वैसे ही अज तथा नित्य भी है, यह उनका कहना अत्यन्त विरुद्ध है, यह इसका तात्पर्य है ॥११॥

पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं—

यदि आप अजन्मा कारण से कार्य को अभिन्न मानते हैं तो आपके मत में यह बात सिद्ध हो जाती है, कि कार्य भी अजन्मा है। पर कार्य है और अजन्मा है ऐसा मानने पर तुम्हारे मत में यह एक दूसरा परस्पर विरोधरूप दोष आ जाता है। इसके अतिरिक्त कार्य कारण को अभिन्न मानने पर उत्पत्तिशील कार्य से अभिन्न

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥१३॥

[जिस वादी के मत में अजन्मा वस्तु से ही (किसी भी कार्य की उत्पत्ति होती है) निश्चय ही उसके पास कोई दृष्टान्त नहीं है और यदि उत्पन्न होने वाली वस्तु से ही कार्य वर्ग की उत्पत्ति मानें, तो अनवस्था उपस्थित हो जाती है ॥१३॥]

किञ्चान्यदजादनुत्पन्नान्नित्याद्वस्तुनो जायते यस्य वादिनः कार्यं दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै । दृष्टान्ताभावेऽर्थादजान्न किञ्चिज्जायत इति सिद्धं भवतीत्यर्थः । यदा पुनर्जाताज्जायमानस्य वस्तुनोऽभ्युपगमः, तदप्यन्यस्माज्जातात्तदप्यन्यस्मादिति न व्यवस्था प्रसज्येत । अनवस्थास्यादित्यर्थः ॥१३॥

कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकेगा । यह कभी भी नहीं हो सकता कि मुर्गी का एक भाग पकाया जाय और दूसरा भाग अंडे देने के लिये सुरक्षित रखा जाय ॥१२॥

इसके अतिरिक्त भी सुनो—जिस वादी के मत में उत्पन्न न होने वाले अजन्मा वस्तु से कार्य उत्पन्न होता है, निश्चय ही उसके मत में तदनुरूप दृष्टान्त नहीं मिलता । इसका तात्पर्य यह है कि दृष्टान्ताभाव के कारण अज वस्तु से किसी की उत्पत्ती नहीं होती, यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है । और जब किसी उत्पन्न होने वाली वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी, तो वह कारण जो कि उत्पन्न होने वाला है, किसी अन्य उत्पन्न होने वाले कारण से उत्पन्न होता है, ऐसा मानना पड़ेगा । पुनः वह भी किसी अन्य उत्पत्तिशील कारण से उत्पन्न होता है, ऐसा मानने पर कोई व्यवस्था नहीं रह जायगी यानी अनवस्था दोष आ जायगा ॥१३॥

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥१४॥

[जिन वादियों के मत में धर्मादि का कारण देहादि संघातरूप फल है और संघातरूप फल का कारण धर्माधर्मादि है । (इस प्रकार कार्य कारण भाव बतलाने वाले बेचारे) वे हेतु और फल के अनादित्व का वर्णन कैसे कर सकते हैं ॥१४॥]

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत' बृ० २।४।१४ इति परमार्थतो द्वैताभावः श्रुत्योक्तस्तमाश्रित्याऽऽह—हेतोर्धर्माधर्मादेरादिः कारणं देहादिसंघातः फलं येषां वादिनाम् । तथाऽऽदिः कारणम् । हेतुधर्माधर्मादिः फलस्य च देहादिसंघातस्य । एवं हेतु फलयोरितरेतरकार्यकारणत्वेनाऽऽदिमत्त्वं ब्रुवद्भिरेवं हेतोः फलस्य चानादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते विप्रतिषिद्धमित्यर्थः । न हि नित्यस्य कूटस्थस्याऽऽत्मनो हेतुफलात्मता संभवति ॥१४॥

धर्माधर्म और शरीर की परस्पर कारणता में दोष

'जहाँ इस तत्त्वदर्शी की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया।' इस श्रुति ने परमार्थतः द्वैत का अभाव कहा है, उसी का आश्रय लेकर आगे बतलाते हैं—

जिन वादियों के मत में धर्माधर्मादि का कारण देहादि संघात रूप फल है, अर्थात् देहादि संघात से धर्माधर्म होते हैं, तथा देहादि संघातरूप फल का कारण धर्मादि हेतु है, क्योंकि धर्माधर्मादि हेतु से देहादि संघातरूप फल उत्पन्न होता है। इस प्रकार हेतु और फल एक दूसरे के कारण हैं। ऐसा मानने पर दोनों ही सकारणक हैं, यानी उत्पन्न होने वाले हैं। फिर तो हेतु अथवा फल में अनादित्व वे कैसे कह सकेंगे ? अतः हेतु और फल को परस्पर एक दूसरे के कारण कहने वाले वादियों द्वारा परस्पर विरुद्ध कथन किया

हेतोरादिः फलं येषमादिर्हेतुः फलस्य च।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥१५॥
संभवे हेतुफलोरेषितव्यः क्रमस्त्वया।
युगपत्संभवे यस्माद संवन्धो विषाणवत् ॥१६॥

[जिनके मत में धर्मादि रूप हेतु का कारण संघात रूप फल है और फल का हेतु धर्मादि है, उनकी यह उत्पत्ति ऐसी ही विरुद्ध है जैसे पुत्र से पिता का उत्पन्न होना ॥१५॥]

[हेतु और फल की उत्पत्ति मानने में दोनों के पौर्वापर्य का अन्वेषण भी करना पड़ेगा, क्योंकि एक साथ उत्पत्ति होने पर (दायें बायें) सींगों के समान (कार्य कारण का) सम्बन्ध नहीं बन सकता ॥१६।]

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इति। उच्यते। हेतुजन्यादेव फलाद्धेतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो भवति यथा पुत्राज्जन्म पितुः ॥१५॥

यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुमिति चेन्मन्यसे संभवे हेतु-

---

गया है। सत्य तो यह है कि नित्य-कूटस्थ आत्मा में हेतुरूपता या फलरूपता किसी प्रकार से भी संभव नहीं है ॥१४॥

वे लोग परस्पर विरुद्ध मत को कैसे मानते हैं, इसे आगे बतलाते हैं—

हेतुजन्य फल से ही हेतु की उत्पत्ति मानने वाले उन लोगों के मत में ऐसा ही विरोध कहा गया है। जैसे पुत्र से पिता का जन्म विरुद्ध प्रलाप है। भला हेतु और फल दोनों ही यदि कार्य हैं, फिर तो हेतु और फलरुप संसार दोनों को अनादि कहना परस्पर विरुद्ध-प्रलाप स्पष्ट ही है ॥१५॥

पूर्वोक्त परस्परविरुद्ध मानना उचित नहीं है। इसे यदि तुम

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥१७॥

[तुम्हारे मत में (स्वतः असिद्ध) फल से उत्पन्न होने वाला हेतु प्रसिद्ध नहीं होता है, एवं (शशशृङ्ग के समान) अप्रसिद्ध हेतु भला कैसे फल को उत्पन्न करेगा ॥१७॥]

फलयोरुत्पत्तौ क्रम एषितव्यस्त्वयोऽन्वेष्टव्यो हेतुः पूर्वं पश्चात्फलं चेति । इतश्च युगपत्संभवे यस्माद्धेतुफलयोः कार्यकारणत्वेनासंबन्धः । यथा युगपत्संभवतोः सव्येतरगोविषाणयोः ॥१६॥

कथमसंबन्ध इत्याह—जन्यात्स्वतोऽलब्धात्मकात्फलादुत्पद्यमानः सञ्शविषाणादेरिवासतो न हेतुः प्रसिध्यति जन्म न लभते । अलब्धात्मकोऽप्रसिद्धः सञ्शशविषाणादिकल्पस्तव कथं फलमुत्पादयिष्यति ।

मानते हो, तो तुम्हें हेतु और फल की उत्पत्ति में क्रम का अन्वेषण करना पड़ेगा अर्थात् पहले हेतु है और पीछे फल होता है, ऐसा पूर्वापरभाव-रूप क्रम खोजना होगा, क्योंकि गौ के एक साथ उत्पन्न होने वाले दायें और बायें सींगों का जैसे कार्य कारण भाव सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही हेतु और फल को एक साथ उत्पन्न होने वाला मानने पर इन दोनों हेतु और फल का परस्पर कार्य कारण रूप से सम्बन्ध न हो सकेगा ॥१६॥

हेतु और फल का परस्पर सम्बन्धाभाव किस प्रकार होगा ? इसे बतलाते हैं—

जिसका स्वरूप स्वतः सिद्ध नहीं है, ऐसे जन्य फल से उत्पन्न होने वाले हेतु की सिद्धि वैसी ही नहीं हो सकती, जैसे असत्शशविषाणादि से किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती । इस प्रकार शशविषाण के समान जिसका स्वरुप प्रसिद्ध ही नहीं है, वह हेतु तुम्हारे मत में फल को कैसे उत्पन्न करेगा ? जो एक दूसरे की अपेक्षा

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥१८॥

[तुम्हारे मत में यदि फल से हेतु की सिद्धि होती है और हेतु से फल की सिद्धि होती है। इस प्रकार हेतु और फल में परस्पर कार्य कारण भाव मानने पर पहले कौन हुआ जिसकी अपेक्षा से पश्चाद् भावी वस्तु की सिद्धि मानी जाय ॥१८॥]

न हीतरेतरापेक्षसिद्धयोः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन संबन्धः क्वचिद्दृष्टः, अन्यथावेत्यभिप्रायः ॥१७॥

असंबन्धतादोषेणापोदितेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणभावे यदि हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव त्वया कतरत्पूर्वनिष्पन्नं हेतुफलयोर्यस्य पश्चाद्भाविनः सिद्धिः स्यात्पूर्वसिद्धयपेक्षया तद्ब्रूही-त्यर्थः ॥१८॥

से सिद्ध होता है। अतएव वे शशविषाण तुल्य हैं। ऐसे असत्पदार्थों का न केवल कार्य कारण भाव से सम्बन्ध होता कहीं नहीं देखा गया है, बल्कि ऐसे पदार्थों का तो किसी भी प्रकार से कहीं भी सम्बन्ध देखा ही नहीं गया है और न संभव ही है, यह इसका तात्पर्य है ॥१७॥

यद्यपि हेतु और फल का कार्य कारण भाव सम्बन्ध बनता नहीं, इस असम्बद्धता रूप दोष के कारण हेतु और फल का कार्यकारण-भाव खण्डित हो चुका है फिर भी तुम यदि हेतु और फलकी सिद्धि एक दूसरे से मानते हो, तो तुम्हें बतलाना पड़ेगा, कि हेतु और फल में से पहले कौन हुआ है? क्योंकि 'कार्यात् नियतपूर्वक-वृत्ति कारणम्' इस लक्षण के अनुसार जिसकी पूर्व सिद्धि हो उसी की अपेक्षा से पश्चाद्भावी कार्य की सिद्धि मानी जा सकेगी, यह इसका तात्पर्य है ॥१८॥

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥१६॥

[(यदि तू इसे नहीं बता सकता तो) यह असामर्थ्य तुम्हारी मूर्खता ही है। अथवा तुम्हारे बतलाये क्रम का भी फिर अन्यथा भाव हो जायगा (अर्थात् इनमें पूर्ववर्ती कारण है और परवर्ती कार्य है यह नियम नहीं रह जायगा) इस प्रकार एक दूसरे के पक्ष में दोष बतलाने वाले प्रतिपक्षी पण्डितों ने सभी वस्तु की अनुत्पत्ति को ही बतलाया है ॥१६॥]

अथैतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे सेयमशक्तिरपरिज्ञानं तत्त्वाविवेको मूढतेत्यर्थः। अथवा योऽयं त्वयोक्तः क्रमो हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धिरितीतरेतरानन्तर्यलक्षणस्तस्य कोपो विपर्यासोऽन्यथाभावः स्यादित्यभिप्रायः। एवं हेतुफलयोः कार्यकारणभावानुपपत्तेरजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रकाशिताऽन्योन्यपक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः पण्डितैरित्यर्थः ॥१९॥

और यदि तुम ऐसा समझते हो कि इसे बतलाया नहीं जा सकता, तो यह तुम्हारी अशक्ति क्या है, मानो उस तत्त्व का अविवेक रूप अपरिज्ञान ही है यानी मूर्खता ही है। अथवा तुमने जो 'हेतु से फल की सिद्धि और फल से हेतु की सिद्धि', ऐसा परस्पर पौर्वापर्य रूप क्रम बतलाया था, उस क्रम का विपर्यय अर्थात् अन्यथा भाव होने लग जायगा, यह इसका तात्पर्य है। इस प्रकार फल और हेतु में कार्यकारण भाव की जो असंगति है, इस 'असंगति के कारण एक दूसरे के पक्ष में दोष बतलाने वाले प्रतिपक्षी बुद्धिमान् पण्डितों ने सबकी अनुत्पत्ति ही बतलायी है ॥१९॥

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥२०॥

[जो बीजांकुर नामक दृष्टान्त उक्त विषय में प्रसिद्ध है, वह भी सदा साध्य के समान ही संदिग्ध है और जो हेतु साध्य के सदृश (स्वयं ही संदिग्ध हो) वह साध्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं हो सकता ॥२०॥]

ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं शब्दमात्रमाश्रित्य च्छलमिदं त्वयोक्तं पुत्राज्जन्म पितुर्यथा। विषाणवच्चासंबन्ध इत्यादि। न ह्यस्माभिरसिद्धाद्धेतोः फलसिद्धिरसिद्धाद्वा फलाद्धेतुसिद्धिरभ्युपगता। किं तर्हि बीजांकुरवत्कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यत इति। अत्रोच्यते—बीजांकुराख्यो दृष्टान्तो यः स साध्येन तुल्यो ममेत्यभिप्रायः। ननु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो बीजांकुरयोरनादिर्न पूर्वस्य पूर्वस्यापरवदादिमत्त्वाभ्युपगमात्। यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादादिमान्बीजं चापरमन्यस्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वा-

---

पू०—हेतु और फल में परस्पर कार्यकारण भाव है। इस प्रकार हमारे कहे शब्द मात्र को लेकर तुमने जो छल पूर्वक यह कह दिया कि, जैसे पुत्र से पिता का जन्म होना असम्बद्ध प्रलाप है एवं दायें और बायें सींगों में परस्पर सम्बन्ध न होने पर भी कार्यकारणभाव असंगत है, इत्यादि। पर हमने असिद्ध हेतु से फल की सिद्धि या असिद्धफल से हेतु की सिद्धि कहीं भी मानी नहीं है। तो फिर क्या मानी है? हम तो बीज और अंकुर के समान शरीर और धर्माधर्म का कार्यकारणभाव मानते हैं।

सि०—इस पर हम कहते हैं—बीजांकुर नामक जो दृष्टान्त आप ने दिया है वह तो साध्य के समान ही पक्ष कोटि में निक्षिप्त है, ऐसे मेरे कहने का तात्पर्य है।

दादिमत्। एवं पूर्वः पूर्वोऽङ्कुरो बीजं च पूर्वं पूर्वमादिमदेवेति प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्याऽऽदिमत्त्वात्कस्यचिदप्यनादित्वानुपपत्तिः। एवं हेतुफलानाम्। अथ बीजाङ्कुरसंततेरनादिमत्त्वमिति चेत। न। एकत्वानुपपत्तेः। न हि बीजाङ्कुरव्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसंततिर्नामैकाऽभ्युपगम्यते हेतुफलसंततिर्वा तदनादित्ववादिभिः। तस्मात्सूक्तं हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यत इति। तथा चान्यदप्यनुपपत्तेर्नच्छलमित्यभिप्रायः। न च लोके साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ सिद्धिनिमित्तं प्रयुज्यते प्रमाणकुशलैरित्यर्थः। हेतुरिति

पू०—बीजांकुर का कार्यकारणभाव अनादि प्रत्यक्ष सिद्ध है।

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनमें से पूर्व-पूर्व अंकुर और फल को परवर्तीय अंकुर और फल के समान आदिवाला ही माना गया है। जैसे इस समय बीज से उत्पन्न हुआ दूसरा अंकुर-आदि वाला है और अन्य-अंकुर से उत्पन्न अन्य बीज आदिमान् है, वैसे ही पूर्वपूर्व अंकुर और पूर्व पूर्व बीज ये सभी आदिमान् हैं। अतः सभी बीजांकुर समुदाय का प्रत्येक बीजांकुर व्यक्ति आदिमान् है। अतएव किसी में भी अनादित्व संभव नहीं, ऐसे ही धर्माधर्म-रूप हेतु और शरीर रूप फल के विषय में भी अनादित्वसंभव नहीं है। यदि बीजांकुर की परम्परा को अनादि मानते हो? तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें एकत्त्व संभव नहीं है। हेतु और फल को अनादि कहने वालों ने बीजांकुर से भिन्न बीजांकुर की परम्परा या हेतुफल की परम्परा नामक एक कोई स्वतन्त्रपदार्थ को माना नहीं जिसे कि वे अनादि कह सकें। फिर भला वे हेतु और फ़ल को अनादि कैसे बतलाते हैं? इसके अतिरिक्त हेतु फल में कार्य कारण में असंगति होने के कारण भी हमारा कथन छलपूर्ण नहीं है किन्तु ठीक ही है। लोक में साध्य के समान संदिग्ध हेतु (दृष्टान्त) का साध्य की सिद्धि के लिये कहीं भी प्रमाणकुशल व्यक्तियों द्वारा

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।
जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ॥२१॥

[हेतु और फल के पूर्वापर का अज्ञान अजातवाद का ही ज्ञापक है, क्योंकि यदि कार्य उत्पन्न हुआ होता तो उसका कारण सुनिश्चित रूप से क्यों नहीं गृहीत होता ॥२१॥]

दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतो गमकत्वात्। प्रकृतो हि दृष्टान्तो न हेतुरिति ॥२०॥

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपितेत्याह—यदेतद्धेतुफलयोः पूर्वापरापरिज्ञानं तच्चैतदजातेः परिदीपकमवबोधकमित्यर्थः। जायमानो हि चेद्धर्मो गृह्यते, कथं तस्मात्पूर्वं कारणं न गृह्यते। अवश्यं हि जायमानस्य ग्रहीत्रा तज्जनकं ग्रहीतव्यम्। जन्यजनकयोः संबन्धस्यानपेतत्वात्। तस्मादजातिपरिदीपकं तदित्यर्थः ॥२१॥

प्रयोग नहीं किया गया है। इस श्लोक में आये हुए हेतु शब्द से दृष्टान्त अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि यह हेतुशब्द दृष्टान्त का ही बोधक है। यहाँ पर दृष्टान्त का प्रसंग भी है, न कि हेतु का ॥२०॥

विद्वानों के मत में अजातवाद कैसे

किस प्रकार पंडितों ने अजाति को बतलाया है? इस पर कहते हैं—

हेतु और फल के विषय में जो यह पूर्वापर का अज्ञान है, वह अज्ञान अजाति का ही बोधक है। क्योंकि उत्पन्न हुआ कार्य यदि जाना गया होता, तो उस कार्य से पूर्ववर्ती कारण का ज्ञान क्यों नहीं होता उत्पन्न होनेवाली वस्तु को जो जानता है, उस पुरुष को उसके कारण का बोध भी अवश्य होना चाहिये था, क्योंकि नियत सम्बन्ध वाले कार्यकारण में से एक का ज्ञान होने पर दूसरे पदार्थ का ग्रहण होना भी अनिवार्य है। इसलिये कार्य कारण भाव का अज्ञान इस अजाति का भी प्रकाशक है ॥२१॥

स्वतो वा परतो वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥२२॥

[अपने से या दूसरे से अथवा दोनों ही से सत् और असत् और सदसद् उभयरूप वाली कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। (जातिवाद के संभव सभी पक्षों का निराकरण कर देने पर अजातिवाद सुतराम सिद्ध हो जाता है ॥२२॥]

इतश्च न जायते किञ्चित्। यज्जायमानं वस्तु स्वतः परत उभयतो वा सदसत्सदसद्वा जायते न तस्य केनचिदपि प्रकारेण जन्म संभवति। न तावत्स्वयमेवापरिनिष्पन्नत्वात्स्वतः स्वरूपात्स्वयमेव जायते यथा घटस्तस्मादेव घटात्। नापि परतोऽन्यस्मादन्यो यथा घटात्पटः पटात्पटान्तरम् वा तथा नोभयतः। विरोधात्। यथा घटपटाभ्यां घटः पटो वा न जायते। ननु मृदो घटो जायते पितुश्च पुत्रः। सत्यम्। अस्तिजायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम्। तावेवशब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत मृषेति यावता

सदादि कार्यवादियों के मत में दोष

इसलिये भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि उत्पन्न होने वाली वस्तु अपने से दूसरे से या दोनों ही से, सद्रूप से, असद्रूप से या सदसद्रूप से उत्पन्न होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर यही कहना पड़ेगा कि किसी भी प्रकार से उसका जन्म होना संभव नहीं। जैसे घट उसी घट से उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही कोई भी वस्तु पूर्ण रूप से निष्पन्न हुए विना अपने आप से स्वतः उत्पन्न नहीं होती और न किसी अन्य से ही, अन्य वस्तु उत्पन्न होती है। जैसे घट से पट अथवा पट से अन्य पट उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार विरोध होने के कारण दोनों से भी कोई उत्पन्न नहीं होता। जैसे

परीक्ष्यमाणे। शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत्। 'वाचाऽऽरम्भणम्' छा० ६।१।४ इति श्रुतेः। सच्चेन्न जायते सत्त्वान्मृत्पिण्डादिवत्। यद्यसत्तथाऽपि न जायतेऽसत्त्वादेव शशविषाणादिवत्। अथ सदसत्तथाऽपि न जायते विरुद्धस्यैकस्यासंभवात। अतो न किञ्चिद्वस्तु जायत इति सिद्धम। येषां पुनर्जनिरेव जायत इति क्रियाकारकफलैकत्वभ्युपगम्यते क्षणिकत्वं च वस्तुनः, ते दूरत एव न्यायापेताः। इदमित्थमित्यवधारणक्षणान्तरानवस्थानादननुभूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च ॥२२॥

घट और पट, इन दोनों से घट अथवा पट उत्पन्न होता नहीं देखा गया है। यदि कहो, कि मिट्टी से घट और पिता से पुत्र होता देखा गया है? ठीक है, किन्तु "उत्पन्न होता है" ऐसा शब्द और प्रत्यय अविवेकियों को ही होते हैं विवेकियों द्वारा तो उस शब्द और प्रतीति की परीक्षा की जाती है, कि ये सत्य हैं या मिथ्या। परीक्षा की जाने पर तो शब्द और प्रत्यय के विषय घटपुत्रादिरूप वस्तु केवल शब्द मात्र ही है। ऐसा ही "वाचारम्भणम्" इत्याहि श्रुति भी कहती है। यदि वस्तु उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है, तो मृत्तिका और पिता आदि के समान पूर्व से विद्यमान होने के कारण उत्पन्न नहीं हो सकती और यदि उत्पत्ति से पूर्व वस्तु असत् है, तो भी शशविषाणादि के समान तीनों काल में असत होने के कारण वह उत्पन्न नहीं होती और यदि सदसद् उभयरूप अर्थात् विद्यमान भी है, और नहीं भी है। ऐसी परस्परविरूद्ध स्वभाव वाली वस्तु की उत्पत्ति कहें तो सर्वथा असंभव है। फलतः यही सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं। इसके अतिरिक्त जिन बौद्धों के मत में जनि क्रिया ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार वे क्रिया, कारक और फल का एकत्व तथा वस्तु में क्षणिकत्व मानते हैं। ऐसी मान्यता तो युक्ति शून्य होने के कारण दूर से ही त्याज्य है, क्योंकि "यह ऐसा

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥२३॥

[अनादि फल से हेतु उत्पन्न नहीं होता और इसी प्रकार अनादि हेतु से फल भी उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि जिस वस्तु का कारण नहीं होता उसका जन्म भी नहीं होता है ॥२३॥]

किञ्च हेतुफलयोरनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया बलाद्धेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगतं स्यात्। कथम्, अनादेरादिरहितात्फलाद्धेतुर्न जायते न ह्यनुत्पन्नादनादेः फलाद्धेतोर्जन्मेष्यते त्वया। फलं चाऽऽदिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्वभावत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते। तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगम्यते। यस्मादादिः कारणं न विद्यते यस्य लोके तस्य

है" इस प्रकार निश्चय क्षण के बाद ही पदार्थ की स्थिति न रहने के कारण किसी भी क्षणिक पदार्थ का अनुभव होना असंभव है। और अनुभव हुए बिना स्मृति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभूतपदार्थ का स्मरण होना सर्वथा असंभव है ॥२२॥

हेतु फल का अनादित्व भी अजाति का साधक है

इसके सिवा हेतु और फल का अनादित्व मानने वाले तुझे बलात्कार से हेतु और फल की अनुत्पत्ति ही माननी पड़ेगी। वह कैसे ?

कारणरहित पदार्थ का जन्म होते नहीं देखा गया है। आदि-रहित फल से हेतु उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जिसका कभी जन्म नहीं हुआ, ऐसे अनादि फल रूप शरीर से धर्माधर्म हेतु का जन्म होना तुम्हें इष्ट नहीं है और न ऐसा ही मानते हो कि आदि रहित अजन्मा हेतु से बिना किसी निमित्त के ही स्वभाव से फल उत्पन्न

प्रज्ञप्ते सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥२४॥

[शब्द स्पर्शादि बाह्यार्थवाद की प्रतिज्ञा को संनिमित्त (बाह्य-विषय से युक्त) मानना चाहिये । अन्यथा निर्विषय मानने पर तो (शब्दादि प्रतीति की विचित्रता रूप) द्वैत का अभाव हो जायगा । (अतः ज्ञान में वैचित्र्य के संपादक बाह्यविषय को मानना ही होगा) इसके अतिरिक्त (दाहादि के निमित्त अग्न्यादि से) क्लेश की उपलब्धि से भी अन्य वादियों के शास्त्र प्रतिपादित द्वैत की सत्ता मान ली गयी है ॥२४॥]

ह्यादिः पूर्वोक्त जातिर्न विद्यते । कारणवत एव ह्यादिरभ्युपगम्यते नाकारणवतः ॥२३॥

उक्तस्यैवार्थस्य दृढीकरणचिकीर्षया पुनराक्षिपति—प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम । निमित्तं कारणं विषय इत्ये-

---

हो जाता है । अतः हेतु और फल का अनादित्व मानने वाले तुझे बलात् उनकी अनुत्पत्ति माननी पड़ जायगी । क्योंकि लोक में जिसका कारण नहीं होता, उसका पूर्वोक्त जन्म भी नहीं होता । इसके विपरीत कारण वाले पदार्थ का ही जन्म तुमने माना है, कारणरहित पदार्थ का नहीं ॥२३॥

बाह्यार्थ वाद का निरूपण ।

पूर्वोक्त—अर्थ को ही दृढ़ करने की इच्छा से पुनः दोष दिखलाते हैं ।

शब्दादिप्रतीति को प्रज्ञान या प्रज्ञप्ति कहते हैं । वह प्रतीति सविषयक होती है । श्लोक में आये 'निमित्त' शब्द का अर्थ कारण यानी विषय है । वह विषय प्रज्ञान में अपने से भिन्न होता है, ऐसी

तत्सनिमित्तत्वं सविषयत्वं स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत्प्रतिजानीमहे। न हि निर्विषया प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्। तस्याः सनिमित्तत्वात्। अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहितादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य नाशतोऽनाशोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः। न च प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्याभावोस्ति प्रत्यक्षत्वात् अतः प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य दर्शनात्। परेषां तन्त्रं परतन्त्रमित्यन्यशास्त्रं तस्य परतन्त्रस्य परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता मताऽभिप्रेता। न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बनवैचित्र्यमन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं संभवति। स्फटिकस्येव नीलाद्युपा-

---

हम प्रतिज्ञा करते हैं। सभी प्रतीतियों में विषय का होना जब अनिवार्य है, तो कोई भी शब्दादि प्रतीति विना विषयकी हो नहीं सकती। यदि प्रतीति विना विषयकी ही होती है, ऐसा मानोगे, तो शब्द, स्पर्श तथा नील पीत और लोहितादि प्रतीतियों में विचित्रता रूप द्वैत का नाश हो जायगा, और प्रतीति में विचित्रता के नाश से द्वैताभाव का प्रसंग भी आ जायगा। किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण प्रतीति में विचित्रता रूप द्वैत का अभाव तो वस्तुतः है नहीं, क्योंकि प्रतीति वैचित्र्यरूप द्वैत का दर्शन हो रहा है। अतः परतन्त्र यानी दूसरों के शास्त्र हैं, उन्हीं परकीय तन्त्रों के आधार पर प्रज्ञान से अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। यदि कहो कि प्रकाश मात्र स्वरूप प्रज्ञान की यह विचित्रता नील पीतादि बाह्यविषय वैचित्र्य के विना ही केवल स्वभाव के कारण ही है? तो ऐसा होना संभव नहीं है। क्योंकि स्वभाव से स्वच्छ स्फटिक में जैसे नील पीतादि उपाधियों के कारण से ही विचित्रता है, नील पीतादि उपाधियों को आश्रय किये विना स्वच्छ स्फटिक में जैसे विचित्रता नहीं आती, वैसे ही स्फटिक के समान स्वच्छ प्रज्ञान में नीलपीतादि बाह्यविषयरूप उपाधि के आश्रय लिये विना

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ २५ ॥

[पूर्वोक्त तर्कों के अनुसार प्रज्ञान में सविषयत्व भले ही तुम मान लो, परन्तु तत्त्वदृष्टि से विचारशील हम लोग प्रज्ञान के निमित्त शब्दादि को वास्तव में निमित्त नहीं मानते ॥२५॥]

ष्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः । इतश्च परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता । संक्लेशनं संक्लेशो दुःखमित्यर्थः । उपलभ्यते ह्यग्निदाहादिनिमित्तं दुःखं यद्यग्न्यादिबाह्यं दाहादिनिमित्तं विज्ञानव्यतिरिक्तं न स्यात्ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत उपलभ्यते तु, अतस्तेन मन्यामहेऽस्ति बाह्योऽर्थ इति । न हि विज्ञानमात्रे संक्लेशो युक्तः । अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः ॥२४॥

अत्रोच्यते—बाढमेवं प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्लेशोपलब्धियु-

---

विचित्रता कभी भी संभव नहीं है । इसके अतिरिक्त दूसरे के शास्त्रों पर आधारित ज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थों का अस्तित्व इसलिये भी माना गया है, क्योंकि अग्नि दाहादि के निमित्त से दुःख उपलब्ध होता है । यदि विज्ञान से भिन्न दाहादि के निमित्त से दुःख उपलब्ध होता है । यदि विज्ञान से भिन्न दाहादि का निमित्त अग्न्यादि कोई बाह्य पदार्थ नहीं होता, तो दाहादि जन्य दुःख की प्रतीति नहीं होती, किन्तु प्रतीति तो होती है । अतः इसी से हम मानते हैं, बाह्य पदार्थ अवश्य हैं । तात्पर्य यह है कि विज्ञान मात्र में दुःख मानना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि बाह्य विषय के विज्ञान मात्र से दुःख होता हुआ कहीं भी नहीं देखा गया है ॥२४॥

बाह्यार्थ वाद का निषेध

इस विषय में हम विज्ञान वादियों का कहना यह है कि ठीक है, इस प्रकार विषयरूप निमित्त के सहित ही प्रज्ञान होता है,

क्तिदर्शनादिष्यते त्वया। स्थिरी भव तावत्त्वं युक्तिदर्शनं वस्तुनस्तथात्वाभ्युपगमे कारणमित्यत्र। ब्रूहि किं तत इति। उच्यते। निमित्तस्य प्रज्ञप्त्यालम्बनाभिमितस्य घटादेरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्माभिः, कथं, भूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्येतत्। न हि घटो यथाभूतमृद्रूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति यथाऽश्वान्महिषः, पटो वा तन्तूव्यतिरेकेण। तन्तवश्चांशुव्यतिरेकेणेत्येवमुत्तरोत्तरभूतदर्शन आ शब्दप्रत्ययनिरोधान्नैव निमित्तमुपलभामहे इत्यर्थः। अथवा भूतदर्शनाद्बाह्यार्थस्यानिमित्तत्वमिष्यते।

विषय के विना नहीं। यह तुम्हें इसलिये अभीष्ट है, क्योंकि दुःखमय रूप तर्क तुम्हें दीख रहा है, किन्तु किसी भी वस्तु की यथार्थता के मानने में युक्ति प्रदर्शन ही कारण है', आप अपनी इस मान्यता के ऊपर स्थिर हो जाओ।

बाह्यार्थ वादी कहता है कि—आप बतलाएँ तो सही, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

विज्ञान वादी—हमारा कहना यह है, कि प्रज्ञान के विषय रूप से जिस घटादि को आपने स्वीकार किया है, उस घटादि को प्रतीति में विचित्रता का हेतु मानना हमें इष्ट नहीं है, यानी वस्तुतः वह प्रत्यय वैचित्र्य का कारण ही नहीं है। कैसे? क्योंकि परमार्थदृष्टि से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है। जैसे अश्व से महिष पृथक् है। इस प्रकार घटकार्य अपने कारण मृत्तिका के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होने पर पृथक्सिद्ध नहीं होता। ऐसे ही तत्त्व फिर से देखने पर तन्तु से पट और अंशु से तन्तु भी पृथक् सिद्ध नहीं होते। भाव यह है कि—उत्तरोत्तर यथार्थ तत्त्व का दर्शन हो जानेपर शब्द एवं प्रतीति का निरोध हो जाता है। फिर तो शब्द एवं प्रतीति के वैचित्र्य का कारण विषय को हम देखते नहींहैं।

रज्ज्वादाविव सर्पादेरित्यर्थः। भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्यानिमित्तत्वं भवेत। तदभावेऽभानात्। न हि सुषुप्तसमाहितमुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभावे आत्मव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थ उपलभ्यते। न ह्युन्मत्तावगतं वस्त्वनुन्मत्तैरपि तथाभूतं गम्यते। एतेन द्वयदर्शनं संक्लेशोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता ॥२५॥

अथवा ऐसा समझो। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प वस्तुतः अपनी प्रतीति का विषय नहीं है, क्योंकि भ्रान्तिकाल में ही कल्पित सर्प और उसके ज्ञान का उदय होता है। वैसे ही परमार्थ-दर्शन हो जाने पर सम्पूर्ण बाह्य-पदार्थों को हम प्रतीति का विषय नहीं मानते। जो भ्रान्ति ज्ञान का विषय नहीं मानते। जो भ्रान्ति ज्ञान का विषय होता है, ऐसा विषय वस्तुतः प्रत्यय वैचित्र्य का निमित्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति के नष्ट होते ही बाह्यार्थप्रतीति नहीं होती। सुषुप्त, समाहित और मुक्त पुरुषों को भ्रान्ति-दर्शन के अभाव हो जाने पर आत्मा से भिन्न कोई भी बाह्यपदार्थ दीखता नहीं। उन्मत्त पुरुष से जानी गयी वस्तु उन्माद रहित पुरुष को यथार्थ नहीं प्रतीत होती। अतः प्रत्यय वैचित्र्य और उसका प्रयोजक बाह्यविषय दोनों ही भ्रम काल में हैं। ऐसा कहने से द्वैत दर्शन और दुःख की प्रतीति दोनों ही निराकृत हो गये। अर्थात् न द्वैतदर्शन यथार्थ है, और न दुःख-उपलब्धि ही यथार्थ है, क्योंकि तत्त्वदर्शियों को स्फुरण से भिन्न वस्तु का भान होता नहीं देखा गया है ॥२५॥

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥२६॥

[(स्वप्नचित्त के समान बाह्य) किसी भी पदार्थ को चित्त स्पर्श नहीं करता, वैसे ही अर्थाभास को भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि स्वप्न के समान जाग्रत में भी शब्दादि बाह्य विषय है नहीं और न चित्त से पृथक् पदार्थाभास ही है ॥२६॥]

यस्मान्नास्ति बाह्यं निमित्तमतश्चित्तं न संस्पृशत्यर्थं बाह्यालम्बनविषयम्। नाप्यर्थाभासं चित्तत्वात्स्वप्नचित्तवत्। अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दाद्यर्थो यतः उक्तहेतुत्वाच्च। नाप्यर्थाभासश्चित्तात्पृथक्चित्तमेव हि घटाद्यर्थवदवभासते यथा स्वप्ने ॥२६॥

जब कि ज्ञान का निमित्त बाह्यविषय है ही नहीं, इसीलिये स्वप्न-चित्त के समान जाग्रत्-चित्त बाह्य आलम्बन के विषय रूप किसी भी पदार्थ को स्पर्श नहीं करता, क्योंकि जैसे स्वप्न के चित्त में चित्तत्व है और वह बाह्यविषय का स्पर्श करता नहीं, वैसे ही जाग्रत्-चित्त में भी चित्तत्व है तो भला जाग्रत-चित्त भी बाह्यविषय आलम्बन का स्पर्श क्यों करने लगे। इतना ही नहीं, बल्कि स्वप्न-चित्त के समान यह जाग्रत्-चित्त भी अर्थाभास को ग्रहण करता नहीं। पूर्वोक्त अनेक हेतुओं से यह सिद्ध किया जा चुका है, कि स्वाप्निक पदार्थ के समान जाग्रदवस्था में भी शब्दादि बाह्य पदार्थ हैं नहीं और न चित्त पृथक् अर्थाभास ही है, किन्तु जैसे स्वप्न में पदार्थ के अभाव रहने पर भी केवल चित्त ही घटादि पदार्थ के समान भासता है। वैसे ही जाग्रदवस्था में घटादि विषय के न रहने पर भी घटादि पदार्थ के समान चित्त भी भासता है ॥२६॥

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥२७॥

[(अतीत अनागत और वर्तमान) इन तीनों अवस्थाओं में चित्त कभी भी विषय को स्पर्श नहीं करता। अतः बिना निमित्त के ही उस चित्त को विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता। (अर्थात चित्त को किसी प्रकार का विपरीत ज्ञान है ही नहीं ॥२७॥]

ननु विपर्यासस्तर्ह्यसति घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य, तथा च सत्यविपर्यासः क्वचिद्वक्तव्य इति। अत्रोच्यते। निमित्तं विषयमतीतानागतवर्तमानाध्वसु त्रिष्वपि सदा चित्तं न संस्पृशेदेवहि। यदि हि क्वचित्संस्पृशेत्सोऽविपर्यासः परमार्थत इति। अतस्तदपेक्षयाऽसति घटे घटाभासता विपर्यासः स्यान्न तु तदस्ति कदाचिदपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम। तस्मादनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति

पू० :—यदि घटादि के न रहने पर भी चित्त को घटादि रूप से भान होना मानोगे, तो यह विपरीतज्ञान अर्थात् भ्रम है, ऐसा कहना पड़ेगा। ऐसी दशा में सम्यक् ज्ञान कब होगा, यह आपको बतलाना पड़ेगा ?

सि० :—इस पर कहते हैं—भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों ही अवस्थाओं में चित्त सदा ही निमित्त यानी विषय को छूता तक नहीं। यदि वह कहीं भी विषय का स्पर्श करता तो निःसन्देह वह पारमार्थिक है ऐसा माना जाता। अतः तत्संस्कार जन्य होने से घट के न होने पर भी घटादि का भान होना भ्रम कहलाता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। इसलिये मानना पड़ेगा कि कभी भी पदार्थ के साथ चित्त का स्पर्श होता ही नहीं। फिर भला विनानिमित्त के उस चित्त को भ्रम ज्ञान कैसे हो सकता। भाव यह है कि किसी भी प्रकार विपरीत ज्ञान है ही नहीं। चित्त का तो यही स्वभाव है कि घटादि

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥२८॥

[अतः (जिस प्रकार) चित्त का दृश्य उत्पन्न नहीं होता (उसी प्रकार) चित्त भी उत्पन्न नहीं होता। जो लोग चित्त का जन्म देखते हैं, वे निश्चय ही आकाश में पक्षी आदिके चरण चिह्न देखते हैं ॥२८॥]

न कथंचिद्विपर्यासोऽस्तीत्यभिप्रायः। अयमेव हि स्वभावश्चित्तस्य यदुतासति निमित्ते घट दौ तद्वदवभासनम् ॥२७॥

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमित्याद्येतदन्तं विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेधपरमाचार्येणानुमोदितम्। तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय। तदिदमुच्यते तस्मादित्यादि। यस्मादसत्येवघटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिनाऽभ्युपगता तदनुमोदितम-स्माभिरपि भूतदर्शनात्। तस्मात्तस्यापि चित्तस्यजायमानाऽवभासता-

---

निनित्त के न होने पर भी उनकी प्रतीति होती रहे। पूर्व पूर्व भ्रान्ति जन्य संस्कार से युक्त विज्ञान उत्तरोत्तर भ्रान्ति के प्रति कारण है। विषय के सहित सम्पूर्ण भ्रम को सिद्धान्त में अविद्या प्रयुक्त माना गया है ॥२७॥

विज्ञान वाद का खण्डन

"प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्त्वम्" इस श्लोक से लेकर यहाँ तक विज्ञान वादी बौद्ध की बाह्यार्थवादी के पक्ष का प्रतिषेध करने वाला जो वचन है, उसी का अनुमोदन आचार्य गौड़पादने किया। क्योंकि बाह्यार्थवाद का दूषण इन्हें भी इष्ट ही है। अब विज्ञानवादी के द्वारा कहे गये अर्थ को हेतु बता कर विज्ञान वादी के पक्ष का भी निषेध करने के लिये कहा जाता है, क्योंकि विज्ञानवादी ने कहा

ऽसत्येव जन्मनि युक्ता भवितुमित्यतो न जायते चित्तम्। यथा चित्त-दृश्यं न जायतेऽतस्तस्य चित्तस्य ये जातिं पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकत्वदुःखित्वशून्यत्वानात्मत्वादि च, तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुमशक्यं पश्यन्तः खे वै पश्यन्ति ते पदं पक्ष्यादीनाम्। अत इतरेभ्योऽपि द्वैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः। येऽपि शून्यवादिनः पश्यन्त एव सर्वशून्यतां स्वदर्शनस्यापि शून्यतां प्रतिजानते ते ततोऽपि साहसिकतरा खं मुष्टिनाऽपि जिघृक्षन्ति ॥२८॥

था कि घटादि के न रहने पर भी चित्त को घटादि का भान होना हमें स्वीकार है। यहाँ तक उसका दर्शन यथार्थ होने के कारण हमने उसका अनुमोदन किया। पर चित्त के जन्म न होने पर भी उसने जो चित्त के जन्म की प्रतीति मानी है, यह युक्ति युक्त नहीं है। इसलिये जैसे चित्त दृश्य उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही चित्त भी उत्पन्न नहीं होता। अतः जो विज्ञान वादी उस चित्त की उत्पत्ति देखते हैं, एवं चित्त के क्षणिकत्व, दुःखित्त्व, शून्यत्त्व तथा अनात्मत्वादि देखते हैं। भला वह उसी चित्त से चित्त के स्वरूप को देखना कैसे सत्य हो सकता है? इतने पर भी चित्त के उक्त स्वरूप को जो वादी देखते हैं, वे निःसन्देह आकाश में पक्षी आदि के पद चिन्ह देखते हैं। अतः अन्य द्वैतवादियों की अपेक्षा भी ये अत्यन्त साहसिक प्रतीत होते हैं, यह इसका तात्पर्य है। और जो भी शून्यवादी सर्वशून्यता को देखते हुए अपने दर्शन की शून्यता की भी प्रतिज्ञा करते हैं, वे तो उन विज्ञान वादियों से भी बढ़कर साहसिक हैं। वे मानो आकाश को मुट्ठी से ही पकड़ना चाहते हैं ॥२८॥

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥२९॥

[क्योंकि अजात (ब्रह्मरूप चित्त) ही उत्पन्न होता है (ऐसी कल्पना वादियों ने की है)। इसलिए अजाति उस चित्त का स्वभाव है और स्वभाव के विपरीत भाव किसी प्रकार भी नहीं होता ॥२९॥]

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति सिद्धम्, यत्पुनरादौ प्रतिज्ञातं तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः। अजातं यच्चित्तं ब्रह्मैव जायत इति वादिभिः परिकल्प्यते, तदजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तस्य ततस्तस्मादजातरूपायाः प्रकृतेरन्यथाभावो जन्म कथंचिद्भविष्यति ॥२९॥

उक्त प्रसंग का उपसंहार

पूर्वोक्त हेतुओं से अजन्मा ब्रह्म ही एक मात्र अबाधित वस्तु है, यह सिद्ध हुआ। अब पहले जिसकी प्रतिज्ञा की थी उसके फल का उपसंहार बतलाने के लिये आगे का श्लोक है।

जो अजात ब्रह्म स्वरूप चित्त है, वही उत्पन्न होता है विज्ञानवादियों द्वारा ऐसी कल्पना की जाती है। क्योंकि अजात ही जन्म लेता है, साथ ही यह भी कहते हैं, कि अजात उसका स्वभाव है। ऐसी परिस्थिति में उस अजातरूप स्वभाव वाले का अन्यथाभावरूप जन्म किसी प्रकार से न होगा। वस्तुतः वह अजन्मा होता हुआ जन्मलेता है, तो उसका जन्म पारमार्थिक न मानकर मायिक मानना पड़ेगा ॥२९॥

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति।
अनन्तता चाऽऽदिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥३०॥

[अनादि संसार का अन्त होना युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकेगा (लोक में कोई भी अनादि भाव वस्तु अन्त वाली नहीं देखी गयी, वैसे ही विज्ञान काल में) उत्पन्न होने वाले मोक्ष की अनन्तता भी नहीं सिद्ध हो सकेगी। (क्योंकि अन्य घटादि में अनन्तता नहीं देखी गयी है) ॥३०॥]

अयं चापर आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसद्भाववादिनां दोष उच्यते। अनादेरतीत कोटिरहितस्य संसारस्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति। न ह्यनादिः सन्नन्तवान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके। बीजाङ्कुरसंबन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति चेत्। न। एकवस्त्वभावेनापोदितत्वात्। तथाऽनन्तताऽपि विज्ञान-

---

जिन लोगों ने आत्मा के संसार और मोक्ष दोनों को पारमार्थिक माना है, ऐसे संसार और मोक्ष में पारमार्थिकत्त्व मानने वाले वादियों के पक्ष में यह एक दूसरा दोष भी कहा जा रहा है। जो अनादि अर्थात् अतीत कोटि से रहित हैं, उसका अन्त होना युक्ति युक्त सिद्ध नहीं होता। कोई भी अनादिभावरूप पदार्थ अन्तवान् होता नहीं देखा गया। जैसे आत्मा अनादि भाव होने से अन्तवान् नहीं है, ऐसे ही अनादिभावरूप इस संसार का भी अन्त मानना युक्तिसंगत नहीं है। यदि कहो कि बीजांकुर की संतान अनादिभाव-रूप है, फिर भी उसका अन्त होता देखा गया है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि बीजांकुर की संतति कोई एक स्वतन्त्रपदार्थ नहीं है, जिसे कि हम अनादिभावरूप मानकर अनादिभाव रूप संसार की अन्तवत्तासिद्धि के लिये उदाहरण मान सके। इसीलिये बीजांकुर संतति का निराकरण हमने पहले कर दिया है। ऐसे ही विज्ञान प्राप्ति

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥३१॥

[जो वस्तु आदि और अन्तमें असद् रूप है वह वर्तमान में भी असद् ही मानी जाती है। मृगतृष्णिकादि असद् वस्तुओं के समान होते हुए भी अनात्मा-पुरुषों द्वारा वे सद्रूप में समझे जाते हैं ॥३१॥

प्राप्तिकालप्रभवस्य मोक्षस्याऽऽदिमतो न भविष्यति। घटादिष्व-दर्शनात्। घटादिविनाशवदवस्तुत्वाददोष इति चेत्। तथा च सति-मोक्षस्य परमार्थसद्भावप्रतिज्ञाहानिः असत्त्वादेव शशविषाणस्येवाऽऽदिमत्त्वाभावश्च ॥३०॥

काल में उत्पन्न होने वाले सादिमोक्ष की अनन्तता भी सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि जो भावपदार्थ आदिमान् होता है, वह अनन्त नहीं होता, किन्तु नाशवान् ही होता है। लोक में घटादि जन्यवस्तु में अनन्तता नहीं देखी गयी। यदि कहो कि घटादिध्वंस के समान बन्ध ध्वंसरूप मोक्ष को हम अवस्तु अर्थात् अभावस्वरूप मानते हैं। यदि सादिभावरूप मोक्ष को हम मानते होते, तो आपका दिया हुआ दोष हमारे पक्ष में आ सकता था। पर हमतो घटाटिध्वंस के समान ही बन्धध्वंस को मोक्ष मानते हैं। अतः हमारे पक्ष में दोष नहीं है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर मोक्ष पारमार्थिक सद्भावरूप है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी। साथ ही शशविषाण के समान असद्रूप होने के कारण भी ऐसे मोक्ष में आदिमत्व का अभाव होने लगेगा। जैसे असत् शशविषाण का जन्म नहीं होता, वैसे ही असत् बन्धाभावरूप मोक्ष का भी जन्म नहीं होता है। यह इसका तात्पर्य है ॥३०॥

सप्रोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥३२॥
सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥३३॥

जाग्रत् के पदार्थों में सप्रयोजनता नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में उसके विपरीत देखा जाता है, (अर्थात् स्वप्न की वस्तु से जाग्रत् में काम नहीं चलता और जाग्रत की वस्तु से स्वप्न में काम नहीं चलता)। अतएव आद्यन्तवत्व हेतु से निश्चय ही वे दोनों अवस्था के पदार्थ मिथ्या माने गये हैं ॥३२॥]

[शरीर के भीतर देखने के कारण जब स्वप्नावस्था में सभी पदार्थ मिथ्या है तो भला इस संकुचित निरवकाश ब्रह्मरूप स्थान में भूतों का दर्शन परमार्थिक कैसे हो सकताहै ॥३३॥]

वैतथ्ये कृतव्याख्यानौ श्लोकाविह संसारमोक्षाभावप्रसङ्गेन पठितौ ॥३१॥३२॥

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनादित्ययमर्थः प्रपञ्च्यत एतैः श्लोकैः ॥३३॥

प्रपंच के मिथ्यात्व में हेतु ।

वैतथ्य प्रकरण में इन दोनों श्लोकों का व्याख्यान हो चुका है, यहाँ पर तो केवल संसार और मोक्ष के अभाव के प्रसंग से वे श्लोक पुनः पढ़ दिये गये हैं ॥३१॥३२॥

"निमित्तस्यानिमित्तत्त्वमीष्यते भूतदर्शनात्" इस श्लोक से कह दिये गये अर्थ का ही इन श्लोकों द्वारा विस्तार किया गया है। अर्थात् तेतीसवें श्लोक से प्रारंभ कर चवालिसवें श्लोक तक सभी का तात्पर्य इतना ही हैं कि "निमित्तस्यानिमित्तत्त्वम्" इस श्लोकोक्त अर्थ का विस्तार किया जाय ॥ ३३ ॥

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाग्दतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥३४॥
मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३५॥

[(जाग्रत में गमनागमन के लिए समय नियत है किन्तु स्वप्नावस्था में) काल का नियम न होने के कारण पदार्थों के पास जाकर देखना सम्भव नहीं है। इसके सिवा जागने पर कोई भी पुरुष स्वप्न वाले देश में विद्यमान नहीं रहता है ॥३४॥]

[मित्रादि के पास मन्त्रणा करके स्वप्न से जगा हुआ पुरुष पुनः उसी मन्त्रणा को पाता नहीं और (उसने स्वप्न में हिरण्यादि) जो कुछ भी ग्रहण किया था, उसे भी जागने पर देखता नहीं ॥३५॥]

जागरिते गत्यागमनकालो नियतो देशः प्रमाणतो यस्तस्यानियमान्नियमस्याभावात्स्वप्ने न देशान्तरगमनमित्यर्थः ॥३४॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य तदेव मन्त्रणं प्रतिबुद्धो न प्रपद्यते । गृहीतं

स्वप्न प्रपंच का मिथ्यात्व

जाग्रदवस्था में देशान्तर के लिये आने जाने का समय जो नियत है और प्रामाणिक देश नियत है। उनका स्वप्न में नियम न होने के कारण यही निश्चित होता है, कि स्वप्नद्रष्टा देशान्तर में गया नहीं ॥ ३४ ॥

इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में मित्रादि के साथ अपने कर्तव्य की पर्यालोचना कर (विचार कर) जगा हुआ व्यक्ति पुनः उसी मन्त्रणा को प्राप्त नहीं करता, क्योंकि निद्रा से जगा हुआ कोई भी व्यक्ति अपने मित्रादि से यह नहीं कहता, कि आज मैंने आप से पहले यह बात की थी। इतना ही नहीं स्वप्न के समय उसने जो

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥३६॥

क्योंकि उससे भिन्न एक अन्य शरीर (शय्या पर पड़ा हुआ) देखा जाता है, जैसे वह शरीर असत् है, वैसे ही जाग्रदवस्था के सारे चित्त दृश्य असत है ॥३६॥]

च यत्किंचिद्धिरण्यादि न प्राप्नोति। गतश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥३५॥

स्वप्ने चाटन्दृश्यते यः कायः सोऽवस्तुकस्ततोऽन्यस्य स्वापदेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनात्। यथा स्वप्नदृश्यः कायोऽसंस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकं जागरितेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः। स्वप्नसमत्वादसज्जागरितमपीति प्रकरणार्थः ॥३६॥

कुछ भी स्वर्णादि ग्रहण किया था, जगने पर उसे प्राप्त करता नहीं। अतः स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा किसी देशान्तर को नहीं जाता, यहीं मानना युक्ति संगत है ॥३५॥

स्वप्न में पर्यटन करता हुआ जो शरीर दिखायी पड़ता है, वह मिथ्या है, क्योंकि उस स्वप्न देश में स्थित शरीर से भिन्न, एक दूसरा शरीर खाट पर पड़ा हुआ देखा जाता है। जैसे स्वप्न में दीखने वाला शरीर असत् है, वैसे ही जाग्रदवस्था में भी सम्पूर्ण चित्त दृश्य अतात्त्विक है, क्योंकि चित्त दृश्यत्व स्वप्न और जाग्रत के दृश्य में समान है। तात्पर्य यह है कि स्वप्न के समान होने से जाग्रदवस्था भी असत् ही है ॥३६॥

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥३७॥

[जाग्रत् के सदृश (ग्राह्यग्राहक रूप में स्वप्न का ग्रहण होने के कारण स्वप्न जाग्रत् का कार्य माना जाता है, परन्तु जाग्रत का कार्य होने से स्वप्न द्रष्टा के लिये ही जाग्रद्‌वस्था सत्य मानी गयी है (औरों के लिये नहीं) ॥३७॥

इतश्चासत्त्वं जाग्रद्वस्तुनो, जागरितवज्जागरितस्येव ग्रहणाद्ग्राह्य-ग्राहकरूपेण स्वप्नस्य तज्जागरितं हेतुरस्य स्वप्नस्य स स्वप्नस्तद्धेतुर्जाग-रितकार्यमिष्यते । तद्धेतुत्वाज्जागरितकार्यत्वात्तस्यैव स्वप्नदृश एव सज्जागरितं न त्वन्येषाम् । यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः । यथा स्वप्नः स्वप्नदृश एव सन्साधारणविद्यमान वस्तुवदवभासते तथा तत्कारण-त्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभा मानं न तु साधारणं विद्यमान-वस्तु स्वप्नवदेवेत्यभिप्रायः ॥३७॥

स्वप्न और जाग्रत् में व्यावहारिक दृष्टि से कार्य कारण भाव ।

इसलिये भी जाग्रत् की वस्तु मिथ्या है, क्योंकि जागरित के समान ही ग्राह्य ग्राहक रूप से स्वप्न का भी ग्रहण होता है। अतः इस स्वप्नावस्था का कारण जाग्रत् माना गया है। और इसीलिये स्वप्नावस्था तद्‌हेतुक है, अर्थात् जागरित का कार्य मानी जाती है। जाग्रत् का कार्य होने के कारण केवल उसी स्वप्नद्रष्टा की दृष्टि में जाग्रत् अवस्था सत्य है, औरों की दृष्टि में नहीं। औरों की दृष्टि में तो जाग्रत् भी वैसी ही है जैसा कि स्वप्न। यह इसका अभिप्राय है। जैसे स्वप्न केवल स्वाप्नद्रष्टा को ही स्वप्नकाल में सर्वसाधारण विद्य-मान वस्तु के समान प्रतीत होता है, वैसे ही स्वप्न का कारण होने से जाग्रत् भी सर्वसाधारण विद्यमान वस्तु के समान ही भासता है,

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।
न च भूताद्भूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन ॥३८॥

[उत्पत्ति के प्रसिद्ध न होने के कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च अजन्मा आत्मस्वरूप ही कहा गया है। सत जाग्रत् से मिथ्या स्वप्न की उत्पत्ति माननी ठीक नहीं (क्योंकि सद्वस्तु से असद् शशशृङ्गादि उत्पत्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती) ॥३८॥]

ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि जागरितवस्तुनो न स्वप्नवदवस्तुत्वम् । अत्यन्तचलो हि स्वप्नो जागरितं तु स्थिरं लक्ष्यते । सत्यमेवमविवेकिनां स्यात् । विवेकिनां तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धोऽतोऽप्रसिद्धत्वादुत्पादस्याऽऽत्मैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज (मु० २।१।२) इति यद्यपि मन्यसे जागरितात्सतोऽसत्स्वप्नो जायत इति तदसत् । न भूताद्विद्यमानादभूतस्यासतः

किन्तु वास्तव में स्वप्न सर्वसाधारण विद्यमान वस्तु नहीं है। अतएव मिथ्या है। ठीक वैसे ही जाग्रत् भी सर्वसाधारण विद्यमान वस्तु न होने के कारण मिथ्या ही है, यह इसका तात्पर्य है ॥ ३७ ॥

पू०—स्वप्न के कारण होने पर भी जाग्रत् वस्तु में स्वप्न के समान मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि स्वप्न अत्यन्त चंचल है, और जाग्रत् स्थिर देखा जाता है।

सि०—ठीक है ? अविवेकियों के लिये चाहे ऐसा ही प्रतीत हो, किन्तु विवेकियों की दृष्टि में तो किसी भी वस्तु का जन्म प्रसिद्ध नहीं है। अतः उत्पत्ति के सिद्ध न होने से सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है इसलिये वेदान्तों में "बाहर भीतर सब कुछ अजन्मा ही है" इत्यादि रूप से सब को अज ही कहा है। और तुम जो मानते हो कि विद्यमान जागरित से अविद्यमान स्वप्न उत्पन्न होता है ? वह भी ठीक नहीं, क्योंकि लोक में विद्यमान् सद्वस्तु से असत् का जन्म

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३९॥

[जीव जाग्रत् काल में (रज्जुसर्प के समान कल्पित) असद् पदार्थों को देखकर उनके संस्कार के साथ तन्मय हो स्वप्त में उन्हें देखता है तथा स्वप्न में भी असद् पदार्थों को देखकर जगा हुआ पुरुष उन्हें नहीं देखता (बस ! इतने मात्र से जाग्रत् को कारण और स्वप्न को कार्य कहा गया है ॥३९॥]

संभवोऽस्ति लोके न ह्यसतः शशविषाणादेः संभवो दृष्टः कथंचिदपि ॥३८॥

ननूक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरितकार्यमिति तत्कथमुत्पादोऽप्रसिद्ध इत्युच्यते। शृणु तत्र यथा कार्यकारणभावोऽस्माभिरभिप्रेत इति। असदविद्यमानं रज्जुसर्पवद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि जागरितवद्ग्राह्यग्राहकरूपेण विकल्पयन्पश्यति तथाऽसत्स्वप्नेऽपि दृष्टवा च प्रतिबुद्धो न पश्यत्यविकल्प-

---

नहीं होता। अविद्यमान् शशविषाणादिअसत्पदार्थों का जन्म सत् कारण असत् कारण से किसी भी प्रकार देखने में नहीं आता ॥३८॥

पू०—जब आपने स्वयं ही यह कहा, कि स्वप्न जागरित का कार्य है। फिर भला यह कैसे कह रहे हो कि उसकी उत्पत्ति अप्रसिद्ध है ?

सि०—स्वप्न और जाग्रत् में जैसा कार्य कारण भाव हमें अभीष्ट है, वह तुम सुनो। जाग्रत् अवस्था में अविद्यमान् विषय—रज्जु सर्प की भाँति विकल्पित असद्वस्तु को देखकर उसके संस्कार से संस्कृत हो तन्मयभाव से स्वप्न में भी जागरित की भाँति ग्राह्य ग्राहक भाव रूप से कल्पना करता हुआ देखता है तथा स्वप्न की भ्राँति विषय असद्वस्तु को देखकर जगा हुआ पुरुष विकल्प करने के कारण नहीं

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ॥४०॥

[(आकाश पुष्प के सदृश न असत् पदार्थ ही असत् कारण वाला है और न घटादि सत् कारण वाला है और न घटादि सत् पदार्थ ही असत कारण वाला है । वैसे ही सत् पदार्थ भी सत् कारण वाला नहीं है, तो भला असत् पदार्थ सत कारण वाला कैसे हो सकता है ॥४०॥]

यन् । चशब्दात्तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न पश्यति कदाचिदित्यर्थः । तस्माज्जागरितं स्वप्नहेतुरुच्यते न तु परमार्थसदिति कृत्वा ॥३९॥

परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्यकारणभाव उपपद्यते । कथम् । नास्त्यसद्धेतुकमसच्छशविषाणादि हेतुः कारणं यस्यासत एव स्वकुसुमादेस्तदसद्धेतुकमसन्न विद्यते तथा सदपि घटादिवस्तु असद्धेतुकं शशविषाणादिकार्यं नास्ति । तथा सच्च विद्य-

---

देखता हूँ । श्लोक में आये 'च' शब्द का अभिप्राय यह है कि ऐसे ही कभी जागरित में भी देखकर स्वप्न में उन पदार्थों को नहीं देखता । इसलिये प्रायशः स्वप्न जागरित के बासनाओं से होने के कारण ऐसा कह दिया जाता है, स्वप्न का कारणजागरित है जाग्रत को परमार्थ सत् मानकर स्वप्न का कारण जाग्रत् को नहीं कहा है ॥३९॥

इस प्रकार व्यवहारदृष्टि से स्वप्न और जाग्रत् में कार्यकारणभाव कहा गया है । परमार्थस्तु किसी भी प्रकार से कार्य कारण भाव संभव नहीं है, कैसे ? कार्य कारण के सम्बन्ध में प्रायशः चार प्रकार का मत देखा जाता है ।

१ :—असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति ।

२ :—असत्कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति ।

मानं घटादि विद्यमानघटादि वस्त्वन्तरकार्यं नास्ति। सत्कार्यमसत्कृत एव संभवति। न चान्यः कार्यकारणभावः संभवति शक्यो वा कल्पयितुम्। अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः कस्यचिदित्यभिप्रायः ॥४०॥

---

३ :—सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति।

४ :—सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति। इन चारों प्रकार के कार्यकारण का खण्डन इस कारिका से किया गया है—

१ :—असत् कारण वाला असत् कार्य भी नहीं है, यदि आकाशकुसुम आदि असत् पदार्थ का शशशृङ्गादि असत्कारण होता, तो असत् कारण वाला असत् कार्य मान लिया जाता, पर ऐसा कहीं भी कार्य कारण है नहीं

२ :—तथा घटादि सद्वस्तु भी शशविषाणादि असत् कारण का कार्य नहीं है।

३ :—ऐसे ही विद्यमान् सद्घटादि किसी अन्य वस्तु का कार्य नहीं है।

४ :—फिर भला सत् का कार्य असत हो, यह कैसे संभव हो सकता है। उक्त चतुर्धा कल्पना के अतिरिक्त कार्य कारणभाव संभव नहीं और न कल्पना ही की जा सकती है। इसीलिये ऐसा मानना ही उचित होगा, कि विवेकियों की दृष्टि में किसी भी वस्तु का कार्यकारणभाव निश्चित नहीं है, यह इसका तात्पर्य है ॥४०॥

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति ॥४१॥

[जैसे कोई मनुष्य भ्रान्ति से जाग्रत् कालीन रज्जू सर्पादि अचिन्त्य पदार्थों को परमार्थ की भाँति ग्रहण करता है, वैसे ही स्वप्न में भी भ्रम से ही स्वप्नावस्था में ही स्वप्न कालीन पदार्थों को देखता है, (जाग्रत से उत्पन्न होते हुए नहीं देखता ॥४१॥)]

पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोरसतोरपि कार्यकारणभावाशङ्कामपनयन्नाह । विपर्यासादविवेकतो यथा जाग्रज्जागरितेऽचिन्त्यान्भावानशक्यचिन्तनीयान्रज्जुसर्पादीन्भूतवत्परमार्थवत्स्पृशन्निव विकल्पयेदित्यर्थः । कश्चिद्यथा तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धस्त्यादीन्धर्मान्पश्यन्निव विकल्पयति तत्रैव पश्यति न तु जागरितादुत्पद्यमानादित्यर्थः ॥४१॥

ठीक है । जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही असत् हैं फिर भी इनका कार्यकारणभाव सम्बन्ध बन सकता है । इस शंका को दूर करते हुए कहते हैं—रज्जुसर्पादि पदार्थ चिन्तन के योग्य न होने के कारण अचिन्तनीय हैं । ऐसे अचिन्तनीय रज्जुसर्पादि का जग्रदवस्था में अविवेकरूपविपर्यास के कारण कोई २ पुरुष परमार्थ के समान स्पर्श करते हुए से कल्पना करता है । वैसे ही स्वप्न में भी भ्रम के कारण ही हाथी आदि पदार्थ को देखता हुआ सा कल्पना करता है । तात्पर्य यह है कि ऐसे स्वप्न के हाथी आदि को जाग्रत से उत्पन्न हुआ नहीं देखता, किन्तु केवल उसी अवस्था में अधिष्ठान की अविवेक के कारण देखता है । अधिष्ठानतत्त्व का साक्षात्कार होते ही उन कल्पित वस्तुओं का निःशेष विनाश हो जाता है । अतः असत् स्वप्न और जागरित में कार्य कारण भाव सर्वथा संभव नहीं है ॥४१॥

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥४२॥

[पदार्थों की उपलब्धि (और वर्णाश्रमादि धर्मों के सम्यक् आचरण से जो लोग पदार्थों की सत्ता मानते हैं और अजातवाद से डरते भी हैं ऐसे लोगों के लिये ही अद्वैतवादी विद्वानों ने (अद्वैत में प्रवेश कराने के लिये) जाति का उपदेश किया है ॥४२॥]

याऽपि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा। उपलम्भनमुपलम्भस्तस्मादुपलब्धेरित्यर्थः। समाचाराद्वर्णाश्रमादिधर्मसमाचरणात्। ताभ्यां हेतुभ्यामस्तिवस्तुत्ववादिनामस्ति वस्तुभाव इत्येवंवदनशीलानां दृढाग्रहवतां श्रद्दधानानां मन्दविवेकिनामर्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः। तां गृह्णन्तु तावत्। वेदान्ताभ्यासिनां तु स्वयमेवाजाद्वयात्मविषयो विवेको भविष्यतीति न तु परमार्थबुद्ध्या।

जगदुत्पत्ति का आदेश अविवेकियों के लिये है

अद्वैतवादी विद्वानों ने जो जगदुत्पत्ति का उपदेश किया है, वह अविवेकियों के लिये तत्त्वज्ञान के उपायरूप से किया गया है। क्योंकि श्रद्धालु दृढ़ाग्रही मन्दविवेक वालों की ऐसी धारणा रही है कि जाग्रत् का उपलम्भ यानी अनुभूति तथा वर्णाश्रमादिधर्मों के सम्यक् आचरण से अर्थात् उन दोनों ही कारणों से पदार्थ का अस्तित्व है। इस प्रकार कहने वाले दृढ़ाग्रही उक्त मन्दविवेकियों के लिये ब्रह्मात्मैक्यबोध की प्राप्ति के उपाय रूप से उत्पत्ति का उपदेश किया गया है। श्रुति एवं तत्त्ववेत्ताओं का विश्वास है कि आज वे अविवेकी भले ही इस जगदुत्पत्ति को मान लें, किन्तु वेदान्त के अभ्यास करने वाले उन मन्दप्रयत्नशील साधकों को भी अजन्मा अद्वितीय आत्म विषय का विवेक हो ही जाता है। अतः परमार्थबुद्धि से जगदुत्पत्ति का उपदेश उन्होंने नहीं किया। वे

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥४३॥

[द्वैत पदार्थों की उपलब्धि (और वर्णाश्रमादि के आचारों) के कारण जो अजातवाद से डरते हैं और द्वैतमान कर अद्वय आत्मा से विरुद्ध मार्ग में चलते हैं, ऐसे (श्रद्धालु और सन्मार्गाव-लम्बी) के लिये जाति दोष सिद्ध नहीं हो सकते, (क्योंकि वे विवेक मार्ग में प्रवृत्त हैं और यदि होगा तो सम्यक् दर्शन की अप्राप्ति के कारण होने वाला) दोष स्वल्प ही होगा ॥४३॥]

ते हि श्रोत्रियाः स्थूलबुद्धित्वादजातेरजातिवस्तुनः सदा त्रस्यन्त्यात्म-नाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः। उपायः सोऽवतारायेत्युक्तम् ॥४२॥

ये चैवमुपलम्भात्समाचाराच्चाजातेरजातिवस्तुनस्त्रसन्तोऽस्ति वस्त्वित्यद्वयादात्मनो वियन्ति विरुद्धं यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। तेषामजातेस्त्रसतां श्रद्धधानानां सन्मार्गावलम्बिनां जातिदोषा जात्यु-

---

अविवेकी इसीलिये कहे गये हैं, क्योंकि वे केवल श्रुतिपरायण हैं, स्थूलबुद्धि के कारण अपना नाश मानते हुए जन्मरहित वस्तु से सदा डरते हैं, यह इसका तात्पर्य है। यही बात आचार्य गौडपाद ने 'उपायः सोऽवताराय' इत्यादि अद्वैतप्रकरणस्थ पन्द्रहवें श्लोक में कही है ॥४२॥

सन्मार्गावलम्बी श्रद्धालु द्वैतवादियों की गति

इस प्रकार पदार्थों की उपलब्धि और वर्णाश्रमादि आचारों के उपदेश के कारण अजन्मा वस्तु से वे डरते हैं, अर्थात् द्वैत वस्तु है ऐसा मानकर अद्वय आत्मा से विरुद्ध चलते हैं, एवं द्वैत को मानते हैं। उन अजाति से भयभीत श्रद्धालु सन्मार्गावलम्बी साधकों को

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥४४॥

[जिस प्रकार उपलब्धि और आचरण के कारण मायाजनित हाथी भी हाथी ही कहा जाता है, उसी प्रकार उपलब्धि और आचरण के कारण भेदरूप द्वैतवस्तु है ऐसा केवल कहा जाता है (वस्तुतः ये दोनों द्वैत वस्तु के सद्भाव के कारण नहीं है) ॥४४॥]

पलम्भकृता दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धिं नोपयास्यन्ति । विवेकमार्गप्रवृत्तत्वात् । यद्यपि कश्चिद्दोषः स्यात्सोऽप्यल्प एव भविष्यति । सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक इत्यर्थः ॥४३॥

ननूपलम्भसमाचारयोः प्रमाणत्वादस्त्येव द्वैतं वस्त्विति । न । उपलम्भसमाचारयोर्व्यभिचारात् । कथं व्यभिचार इत्युच्यते । उपलभ्यते हि मायाहस्ती । हस्तीव हस्तिनमिवात्र समाचरन्ति ।

जाति की उपलब्धि से होने वाले जातिदोष नहीं लगेंगे यानी जाति स्वीकार करने के कारण बारम्बार जन्म मरणादि दोष को वे प्राप्त नहीं करेंगे, क्योंकि वे विवेकमार्ग में लगे हुए हैं । यदि कुछ दोष होगा भी, तो केवल सम्यक् दर्शन की अप्राप्ति से होने वाला वह दोष अल्प ही होगा । क्योंकि 'नहि कल्याण कृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति' इस गीता वाक्य से उसके आत्यन्तिक पतन का अभाव बतलाया गया है ॥४३॥

उपलब्धि और आचरण में व्यभिचार भी है

पू०—उपलब्धि और आचरण प्रमाण होने से द्वैत वस्तु है ही, फिर भला द्वैतवस्तु का अभाव कैसे कह रहे हो ?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि उपलब्धि और आचरण का व्यभिचार भी होता है । कैसे व्यभिचार होता है ? इस पर

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥४५॥

[(अजाति होता हुआ भी जातिवत् प्रतीत होने से) जिसे जात्याभास कहते हैं (अचल होते हुए जो) चल के समान प्रतीत होता है, (द्रव्य न होते हुए भी) वस्तु के समान भासता है, (वह परमार्थतः) अज, अचल और अवस्तु रूप शान्त एवं अद्वितीय विज्ञान ही है ॥४५॥]

बन्धनारोहणादिहस्तिसंबन्धिभिधर्मैर्हस्तीति चोच्यतेऽसन्नपि यथा तथैवोपलम्भसमाचाराद्द्वैतं भेदरूपमस्ति वस्त्वित्युच्यते। तस्मान्नोपलम्भसमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतू भवत इत्यभिप्रायः ॥४४॥

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु यदास्पदा जात्याद्यसद्बुद्धय इत्याह— अजाति सज्जातिवदवभासत इति जात्याभासम्। तद्यथा देवदत्तो जायत इति। चलाभासं चलमिवाऽऽभासत इति। यथा स एव

कहते हैं—वास्तविक हाथी के समान माया से बना हाथी भी देखा जाता है, क्योंकि हाथी के समान ही माया से बने हाथी के साथ भी बन्धन-आरोहणादि हस्तिसम्बन्धी धर्मों से व्यवहार करते हैं। जैसे—असत् होने पर भी वह हाथी है, ऐसा कहा जाता है। वैसे ही प्रतीति और आचरण के कारण भेदरूप द्वैतवस्तु है ऐसा कहा जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि प्रतीति और आचरण द्वैतवस्तु की सत्ता में अव्यभिचारित नहीं है ॥४४॥

परमार्थतः क्या है ?

अच्छा तो जिसके आश्रित जाति आदि असत् बुद्धियाँ होती हैं, वह परमार्थ वस्तु वास्तव में क्या है ? इस पर कहते हैं—जो वास्तव में है तो अजाति, पर जाति के समान प्रतीत होता है, उसे जात्याभास कहते हैं। यथा—देवदत्तपद उपलक्षितचेतन अजन्मा होता

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥४६॥

[इस प्रकार उक्त हेतुओं से चित्त उत्पन्न नहीं होता। अतएव ब्रह्मज्ञानियों ने जीवात्मा को अजन्मा माना है। ऐसे जानने वाले लोग ही भ्रान्ति में नहीं पड़ते ॥४६॥]

देवदत्तो गच्छतीति। वस्त्वाभासं वस्तुद्रव्यं धर्मि तद्वदवभासत इति वस्त्वाभासम्। यथा स एव देवदत्तो गौरो दीर्घ इति जायते देवदत्तः स्पन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते परमार्थतस्त्वजमचलमवस्तुत्वमद्रव्यं च। किं तदेवंप्रकारं विज्ञानं विज्ञप्तिः। जात्यादिरहितत्वाच्छान्तम्। अत एवाद्वयं च तदित्यर्थः ॥४५॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न जायते चित्तमेवं धर्मा आत्मानोऽजाः

हुआ भी देवदत्त उत्पन्न होता है, ऐसा व्यवहार देखा जाता है। वैसे ही जो अचल होता हुआ भी चल के समान प्रतीत होता हो, उसे चलाभास कहते हैं। यथा—वही देवदत्त जाता है, एवं वस्तु-धर्मी द्रव्य को वस्त्वाभास कहते हैं, क्योंकि वह वस्तु न होते हुए भी वस्तु के समान दीखता है। एवं जिस प्रकार वही देवदत्त गौर वर्ण और दीर्घ है। अतः वास्तव में जाति, गति, और वर्णादि से रहित होता हुआ भी देवदत्त उत्पन्न होता है, चलता है तथा वह गौर वर्ण एवं दीर्घ है, इस प्रकार भासता है। परन्तु परमार्थ दृष्टि से देवदत्त पद लक्ष्य चेतन, अजन्मा, अचल, अवस्तु और अद्रव्य ही है। इस प्रकार का वह है क्या ? इस पर सिद्धान्ती कहता है कि वह है विज्ञान, यानी चिन्मात्र है। तथा वह जन्मादि से रहित होने के कारण शान्त है। इसीलिये वहअद्वय भी है। यही इसका भावार्थ है ॥४५॥

इस प्रकार पूर्वोक्त हेतुओं से चित्त उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्रहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥४७॥

[जिस प्रकार जलती हुई बनैती का घूमना ही (लोक में) सीधे टेढ़े रूपों में भासता है वैसे ही अविद्या के कारण स्पन्दन होता हुआ भी विज्ञान का स्पन्द ही ग्रहण और ग्रहकादि रूपों में प्रतीत होता है ॥४७॥]

स्मृता ब्रह्मविद्भिः । धर्मा इति बहुवचनं देहभेदानुविधायित्वादद्वयस्यैवोपचारतः । एवमेव यथोक्तं विज्ञानं जात्यादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं विजानन्तस्त्यक्तबाह्यैषणाः पुनर्न पतन्त्यविद्याध्वान्तसागरे विपर्यये । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ई० ७" इत्यादिमन्त्रवर्णात् ॥४६॥

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह—यथा हि लोक ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्पन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं

आत्मा भी अजन्मा है। ऐसा ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है। देहभेद के अनुसरण करने वाला होने से अद्वितीय आत्मा के लिये गौण दृष्टि से 'धर्माः' ऐसा बहुवचन का प्रयोग कर दिया गया है। ऐसे ही पूर्वोक्त विज्ञान रूप ब्रह्म को जाति आदि से रहित अद्वितीय आत्म तत्त्व रूप से जानने वाले सम्पूर्ण बाह्य ऐषणाओं से मुक्त मुख्याधिकारी पुनः अविद्यान्धकार रूप भ्रान्तिमय समुद्र में नहीं पड़ते। 'उस अवस्था में एकत्व आत्मदर्शी पुरुष को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है' इत्यादि मन्त्र वर्ण से यही बात कही गयी है ॥४६॥

अलातस्पन्द का दृष्टान्त

पूर्वोक्त परमार्थ-दर्शन का विस्तार करते हुए कहते हैं—जैसे लोक में सीधे टेढ़े आदि प्रकार से भासने वाला अलातस्पन्द (उल्का

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥४८॥

[जैसे स्पन्दन से रहित अलात (ऋजु वक्रादि आकारों में भासित न होने के कारण (अनाभास और अज है, वैसे ही (अविद्या से प्रतीत होने वाला विज्ञान स्पन्द अविद्या के निवृत्त होते ही) स्पन्दन रहित विज्ञान भी अज और अचल हो जाता है ॥४८॥

विषयिविषयाभासमित्यर्थः किं तद्विज्ञानस्पन्दितम् । स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया । न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति । अजाचलमिति ह्युक्तम् ॥४७॥

अस्पन्दमानं स्पन्दनवर्जितं तदेवालातमृज्वाद्याकारेणाजायमानमनाभासमजं यथा तथाऽविद्यया स्पन्दमानमविद्योपरमेऽस्पन्दमानं

चक्र) का भ्रमण ही है। वैसे ही ग्रहण और ग्राहक रूप से भासने वाला अर्थात् विषयी और विषय का आभास भी है। वह कौन है ? स्पन्दितविज्ञान ही है। जो अविद्या से स्पन्दित हुआ सा प्रतीत होता है। वास्तव में चल क्रियारहित कूटस्थस्वरूप विज्ञान में अविद्या के विना स्पन्दन संभव नहीं, क्योंकि अभी पैतालीसवें श्लोक में विज्ञान अज और अचल है, ऐसा हम कह आये हैं ॥४७॥

जैसे वही अलातस्पन्दन क्रिया से रहित होने पर सीधे टेढ़े आदि आकारों में भासित न होने के कारण अनाभास और अजन्मा ही रहता है, अर्थात् जब उस अलात में स्पन्दन नहीं होता तब वह टेढ़े सीधे रूप में प्रतीत नहीं होता। ठीक वैसे ही अविद्या से स्पन्दित होने वाला जो विज्ञान है, वह अविद्या के निवृत्त हो जाने पर जाति आदि रूप से स्पन्दित न होता हुआ आभास जन्म तथा चलनक्रिया से शून्य हो जायेगा। अतः निष्कल निरवयव विज्ञान के जात्यादि-

अलाते स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥४९॥
न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥५०॥

[अलात के स्पन्दित होने पर (सीधे टेढ़े आदि अकारों में) आभास कहीं अन्यत्र से नहीं उपस्थित हो जाते और न स्पन्द रहित अलात में ही प्रवेश करते हैं ॥४९॥]

[वस्तुत्व का अभाव होने से वे (घर से निकलने के समान) अलात से भी नहीं निकले हैं। ठीक ऐसे ही आभास की समानता होने से विज्ञान के विषय में भी समझना चाहिये ॥५०॥]

जात्याद्याकारेणानाभासमजमचलं भविष्यतीत्यर्थः ॥४८॥

किंच तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमान ऋजुवक्राद्याभासा अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालातेनैव भवन्तीति नान्यतोभुवः। न च तस्मान्निस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः। न च निस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते ॥४९॥

किंच न निर्गता अलातात्त आभासा गृहादिवद्द्रव्यत्वाभावयो-

रूप से प्रतीत होने में अविद्या ही एकमात्र कारण है, यह इसका तात्पर्य है ॥४८॥

इसके अतिरिक्त उस अलात् स्पन्दन क्रिया वाले होने पर सीधे टेढ़े आदि आभास किसी अन्य से होने वाले नहीं हैं और न उस अलात के स्पन्दनरहित होने पर वे आभास अन्यत्र कहीं जाते ही हैं, एवं न उस निस्पन्द अलात में वे आभास प्रविष्ट ही होते हैं। अतः अलात में सीधे टेढ़े आदि आभास मिथ्या ही हैं ॥४९॥

इसके अतिरिक्त उस ऋज्वादि आभास में द्रव्यत्व तो है नहीं,

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र विस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥५१॥

[विज्ञान के स्पन्दित होते पर भी ऋजु वक्रादि आभास कहीं अन्यत्र से नहीं आते तथा उसके पन्द रहित होने पर कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न वे विज्ञान में ही प्रवेश करते हैं ॥५१॥]

गतः । द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम् । तदभावो द्रव्यत्वाभावः । द्रव्यत्वाभावयोगतो द्रव्यत्वाभावयुक्तेर्वस्तुत्वाभावादित्यर्थः । वस्तुनो हि प्रवेशादि संभवति नावस्तुनः । विज्ञानेऽपि जात्योद्याभासास्तथैव स्युराभासस्याविशेषतस्तुल्य त्वात् ॥५०॥

अलातेन समानं सर्वं विज्ञानस्य । सदाऽचलत्वं तु विज्ञानस्य विशेषः । जात्याद्याभासा विज्ञानेऽचले किंकृता इत्याह । कार्यकारणता-

---

क्योंकि द्रव्य के भाव को द्रव्यत्व कहते हैं और उसके अभाव को द्रव्यत्वाभाव कहते हैं। ऐसे द्रव्यत्वाभाव रूप युक्ति के कारण उस आभास में वस्तुत्व नहीं है। यदि उसमें वस्तुत्व होता, तो कदाचित् गृहादि से निकलने के समान अलात से वे आभास निकल आये हैं, ऐसा मान लेते। प्रवेश या निर्गमन वस्तु के ही हो सकते हैं, अवस्तु के नहीं। जैसे दृष्टान्त में आभास अवस्तु होने से उसमें प्रवेशादि संभव नहीं है। ठीक वैसे ही विज्ञान में प्रतीत होने वाले जात्यादि आभास भी ऐसे ही समझने योग्य है, क्योंकि अन्ततः ऋज्वादि-आभास में और जात्यादि-आभास में समानता होने के कारण दोनों की तुल्यता तो है ही। यह आभासत्व यानी दृश्यत्व हेतु दोनों के मिथ्यात्व का प्रयोजक है ॥५०॥

दोनों में तुल्यता किस प्रकार है ? इस पर कहते हैं—अलात के समान ही जात्यादि-आभास सब कुछ विज्ञान ही है यानी प्रातीतिक

न विर्गतास्ते विज्ञानाद्द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥५२॥

[वस्तुत्व के अभाव होने से वे जीव विज्ञान से भी नहीं निकलते हैं, क्योंकि कार्य कारण भाव के न होने के कारण वे जात्याभासादि सदा ही अनिर्वचनीय हैं ॥५२॥]

भावाज्जन्यजनकत्वानुपपत्तेरभावरूपत्वादचिन्त्यास्ते यतः सदैव । यथाऽसत्स्वृज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टाऽलातमात्रे तथाऽसत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे जात्यादिबुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः ॥५१-५२॥

होने से मिथ्या है। किन्तु सदा अचल रहना यह अलात की अपेक्षा विज्ञान में विशेष है। विज्ञान के अचल रहने पर जात्यादि आभास किस कारण से होते हैं? इसका उत्तर देते हैं–विज्ञान और जात्यादि-आभास में कार्यकारण भाव न होने के कारण उनमें जन्यजनक भाव भी नहीं हैं। इसलिये वे सदा अचिन्तनीय हैं। जैसे सीधे टेढ़े आदि आभासों के न होने पर भी केवल अलात में ऋज्वादिबुद्धि होती देखी गयी है। वैसे ही जात्यादि-आभास के न होने पर भी केवल विज्ञान मात्र में जो जात्यादिबुद्धि होती है, वह अचिन्तनीय होने से मिथ्या ही है। यही इन दोनों श्लोकों के समुदाय का अर्थ है ॥५१-५२॥

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि ।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥५३॥

[अन्य द्रव्य ही अन्य द्रव्य का कारण हो सकता है (न कि उस द्रव्य का वही कारण और जो वस्तु द्रव्य नहीं है वह किसी का स्वतन्त्र कारण होता लोक में देखा नहीं गया है) आत्माओं में द्रव्यत्व सम्भव नहीं है (अतः उनमें कारणत्व भी नहीं ॥५३॥]

अजमेकमात्मतत्त्वमिति स्थितं तत्र यैरपि कार्यकारणभावः कल्प्यते तेषां द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यद्धेतुः कारणं स्यान्न तु तस्यैव तत् । नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं स्वतन्त्रं दृष्टं लोके । न च द्रव्यत्वं धर्माणामात्मनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा कुतश्चिद्येनान्यस्य कारणत्वं कार्यत्वं वा प्रतिपद्येत । अतोऽद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वाऽऽत्मेत्यर्थः ॥५३॥

आत्मा में कार्यकारण भाव संभव नहीं

इस प्रकार अजन्मा एक आत्मतत्त्व है, ऐसा निश्चय हुआ। फिर भी उसमें जो लोग कार्यकारणभाव की कल्पना करते हैं उनके मत में भी अन्यद्रव्य का कारण अन्यद्रव्य ही हुआ करता है, न कि उस द्रव्य का कारण वही द्रव्य। इसके सिवा जो वस्तु नहीं है वह किसी का स्वतन्त्र कारण होता हुआ लोक में नहीं देखा गया है। आत्मा में न तो द्रव्यत्व ही है और न अन्यत्व ही किसी प्रकार से संभव है। जिससे कि वे आत्मा किसी अन्य द्रव्य के कारण या कार्य भाव को प्राप्त कर सकें। अतः द्रव्यत्वाभाव और अन्यत्वाभाव के कारण ही आत्मा किसी का भी न कार्य है, और न कारण ही है ॥५३॥

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वाऽपि न धर्मजम् ।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥५४॥

[इस प्रकार उक्त हेतुओं से बाह्य पदार्थ चित्त से उत्पन्न नहीं हुए हैं और न आत्मविज्ञान स्वरूप चित्त ही बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। (क्योंकि सभी पदार्थ चित्त के अभास मात्र हैं) अतः मनीषी हेतु और फल की अनुपत्ती का ही निश्चय करते हैं ॥५४॥]

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो आत्मविज्ञानस्वरूपमेव चित्तमिति न चित्तजा बाह्यधर्मा नापि बाह्यधर्मजं चित्तम्। विज्ञानस्वरूपाभासमात्रत्वात्सर्वधर्माणाम्। एवं न हेतोः फलं जायते नापि फलाद्धेतुरिति हेतुफलयोरजातिं हेतुफलाजातिं प्रविशन्त्यध्यवस्यन्ति। आत्मनि हेतुफलयोरभावमेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥५४॥

इस प्रकार पूर्वोक्त हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि चित्तविज्ञानस्वरूप ही है। बाह्यपदार्थ न तो चित्त से उत्पन्न हुए हैं और न बाह्य भूत-भौतिक पदार्थों से चित्त ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि समस्त धर्म विज्ञान स्वरूप के केवल आभासमात्र ही तो हैं। ऐसे ही न तो धर्माधर्म हेतु से शरीर रूप फल उत्पन्न होता है और न शरीररूप फल से धर्माधर्म रूप हेतु ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिये ब्रह्मतत्त्वदर्शी पुरुष हेतु और फल की अनुत्पत्ति निश्चित करते हैं अर्थात् आत्मा में हेतु और फलभाव नहीं है, यही ब्रह्म ज्ञानियों का निश्चय है ॥५४॥

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥५५॥

[जब तक हेतु फल भाव का आरोप (आत्मा में) हो रहा है, तभी तक हेतु और फल की उत्पत्ति भी है (किन्तु जिस समय अद्वैत बोध से अविद्या जनित) हेतु फल भाव का आवेश क्षीण हो जाता है, उस समय (हेतु फल भाव रूप) संसार की उत्पत्ति भी नहीं होती ॥५५॥]

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टास्तेषां किं स्यादित्युच्यते—धर्माधर्माख्यस्य हेतोरहं कर्ता मम धर्माधर्मौ तत्फलं कालान्तरे क्वचित्प्राणिनिकाये जातो भोक्ष्य इति यावद्धेतुफलयोरावेशो हेतुफलाग्रह आत्मन्यध्यारोपणं तच्चित्ततेत्यर्थः। तावद्धेतुफलयोरुद्भवो धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य चानुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः। यदा पुनर्मन्त्रौषधिवीर्येणेव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेनाविद्योद्भूतहेतुफलावेशोऽपनीतो भवति तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥५५॥

हेतु-फलभाव के अभिनिवेश का परिणाम

किन्तु जो हेतु और फल में अभिनिविष्ट हैं उनका परिणाम क्या होगा ? इस पर कहते हैं—धर्माधर्म नामक हेतु का मैं कर्ता हूँ, मेरे पुण्य और पाप हैं। किसी दूसरे समय में कहीं पर प्राणी के शरीरों में जन्म लेकर उनका फल मैं भोगूँगा। इस प्रकार जब तक हेतु और फल का आवेश अर्थात् हेतु और फल का आत्मा में आरोप करना, यानी तन्मयता बनी हुई है, तब तक हेतु और फल का उद्भव भी है; अर्थात् पुण्य और पाप एवं उनके फल की निरवच्छिन्न रूप से प्रवृत्ति बनी हुई है। पर जब मन्त्र तथा औषध की सामर्थ्य से जैसे ग्रहों का आवेश निवृत्त हो जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त अद्वैत-

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥५६॥

[जब तक हेतु और फल का आग्रह है तभी तक संसार विस्तृत होता जाता है । हेतु फलाग्रह के क्षीण हो जाने पर (विद्वान्) संसार को प्राप्त नहीं होता ॥५६॥]

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को दोष इति तत्राऽऽह—यावत्सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवतीत्यर्थः । क्षीणे पुनर्हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते कारणाभावात् ॥५६॥

तत्त्व के साक्षात्कार से अविद्याजनितहेतु और फल का आवेश दूर हो जाता है । तब उक्त आवेश के क्षीण हो जाने पर हेतु और फल की उत्पत्ति भी नहीं होती ॥५५॥

हेतु और फल के आग्रह में दोष

यदि हेतु और फल का उद्भव होता रहे, तो उनमें दोष क्या है ? इस पर कहते हैं—कि जब तक यथार्थ आत्मबोध से हेतु और फल का आग्रह मिट नहीं जाता, तब तक संसार क्षीण नहीं हो सकता, उल्टे विस्तृत होता जायगा, किन्तु हेतु फलावेश के क्षीण हो जाने पर विद्वान् संसार को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संसार प्राप्ति का कारण अब नहीं रह गया है ॥५६॥

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥५७॥

[सभी पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। अतः (अविद्यक कोई वस्तु) शाश्वत नहीं है। परमार्थ दृष्टि से तो सब कुछ अजन्मा आत्मा ही है। अतएव किसी के उच्छेद का प्रसङ्ग ही नहीं आता ॥५७॥]

नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव तत्कथं हेतुफलयोः संसारस्य चोत्पत्तिविनाशावुच्येते त्वया। शृणु। संवृत्या संवरणं संवृतिरविद्याविषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते सर्वं तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वै। अत उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसार आयत इत्युच्यते। परमार्थसद्भावेन त्वजं सर्वमात्मैव यस्मात्। अतो जात्याद्यभावादुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्यचिद्धेतुफलादेरित्यर्थः ॥५७॥

पू०—अजन्मा आत्मा से भिन्न जब कोई वस्तु आप मानते नहीं, फिर हेतु और फल एवं संसार के उत्पत्ति विनाश की चर्चा तुम कैसे कर रहे हो ?

सि०—सुनो ! अविद्याविषय लौकिकव्यवहार को संवृत्ति या संवरण कहते हैं। उस संवृत्ति से ही सब उत्पन्न होते हैं। अतः अविद्याविषयसंसार में कोई भी शाश्वत यानी नित्यवस्तु नहीं है। इसीलिये उत्पत्ति-विनाशरूप संसार अत्यन्त विस्तृत कहा जाता है, क्योंकि परमार्थ-सत्यात्मा की दृष्टि से तो सब कुछ अजन्मा आत्मस्वरूप ही है। अतः जन्म का अभाव होने के कारण किसी भी हेतु या फलादि का उच्छेद भी नहीं होता। जब किसी वस्तु का जन्म ही नहीं होता, तो भला उसका नाश भी क्या होगा ? यह इसका अभिप्राय है ॥५७॥

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥५८॥

[जीव या अन्य पदार्थ जो उत्पन्न होते हैं वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते । यह तो केवल कल्पना मात्र है, क्योंकि उनका जन्म माया सदृश है और वास्तव में यह माया भी नहीं है, क्योंकि अविद्यमान वस्तु को ही माया नाम से कहते हैं ॥५८॥]

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा जायन्त इति कल्प्यन्ते त इत्येवंप्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यते । संवृत्यैव धर्मा जायन्ते न ते तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते । यत्पुनस्तत्संवृत्या जन्म येषी तेषां धर्माणां यथोक्तानां यथा मायया जन्म तथा तन्मायोपमं प्रत्येतव्यम । माया नाम वस्तु तर्हि नैवम । सा च माया न विद्यते मायेत्यविद्यमान-स्याऽऽख्येत्यभिप्रायः ॥५८॥

सभी वस्तु का जन्म मायिक है

जो भी आत्मा या अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसी कल्पना किये जाते हैं । वे इस प्रकार के सभी पदार्थ व्यावहारिकदृष्टि से ही उत्पन्न होते हैं, तात्त्विक दृष्टि से नहीं । श्लोक में आये इति शब्द से पूर्व श्लोक में कही गयी संवृत्ति का निर्देश किया गया है । जब कि उन पूर्वोक्त धर्मोंका व्यावहारिक दृष्टि से जो जन्म होता है वह जन्म माया से होता है । इसीलिये उस जन्म को माया के सदृश्य समझना चाहिये ।

तब तो माया एक वस्तु सिद्ध हो जाती है ? ऐसी बात नहीं, वह माया भी वास्तव में है नहीं । अभिप्राय यह कि अविद्यमान वस्तु का नाम माया है ॥५८॥

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः ।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥५९॥
नाजेषु पसर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥६०॥

[जैसे मायामय (आम्रादि के) बीज से मायामय अंकुर उत्पन्न होता है, वह अङ्कुर न नित्य ही है और न नाशवान् ही है। वैसे ही धर्मों के विषय में भी जन्म नाशादि की योजना समझनी चाहिये ॥ ५९ ॥]

[सभी अजन्मा आत्मरूप धर्मों में नित्य अनित्य ऐसे नाम की प्रवृत्ति नहीं है। जिस आत्मा में शब्द ही प्रवृत्त नहीं होते वहाँ पर नित्यानित्य विवेक भी नहीं कहा जा सकता ॥६०॥]

कथं मायोपमं तेषां धर्माणां जन्मेत्याह। यथा मायामयादा-म्रादिबीजाज्जायते तन्मयो मायामयोऽङ्कुरो नासावङ्कुरो नित्यो न चोच्छेदी विनाशी वाभूतत्वात्तद्वदेव धर्मेषु जन्मनाशादियोजना युक्तिः। न तु परमार्थतो धर्माणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः ॥५९॥
परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु नित्यैकरसविज्ञप्तिमात्रसत्ताकेषु शाश्वतो-

---

कैसे माना जाय कि उन पदार्थों का जन्म माया के सदृश है ? इसपर कहते हैं—जैसे मायामय आम्र आदि के बीज से मायामय अंकुर उत्पन्न होता है, वह अंकुर न नित्य है, न नाशवान् ही है। वैसी ही असत्य होने के कारण पदार्थों में जन्म नाशादि की योजना यानी युक्ति कही गयी है। अभिप्राय यह है कि परमार्थ दृष्टि से किसी भी पदार्थ का जन्म और नाश होना युक्ति संगत नहीं है ॥५९॥

आत्मा वाणी का विषय नहीं है

परमार्थस्तु जो आत्मा अजन्मा, नित्य, एक रस, विज्ञानमात्र

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥६१॥
अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥६२॥

[जैसे स्वप्नावस्था में माया के द्वारा ही मन ग्राह्य ग्राहक द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है वैसे ही जाग्रत काल में यह मन माया से (नाना रूपों में) स्फुरित होता है ॥ ६१ ॥]

[जैसे स्वप्न काल में अद्वितीय मन ही ग्राह्य ग्राहकादि द्वैत रूप से भासता है इसमें सन्देह नहीं, ठीक जाग्रत काल में भी निस्सन्देह अद्वितीय मन ही ग्राह्यग्राहकादि द्वैत रूप से भासने वाला है ॥६२॥]

ऽशाश्वत इति वा नाभिधा नाभिधानं प्रवर्तत इत्यर्थः। यत्र येषु वर्ण्यन्ते यैरर्थास्ते वर्णाः शब्दा न प्रवर्तन्तेऽभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्तन्त इत्यर्थः। इदमेवमिति विवेको विविक्तता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते। 'यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० २।४।१) इति श्रुतेः ॥६०॥

यत्पुनर्वाग्गोचरत्वं परमार्थतोऽद्वयस्य विज्ञानमात्रस्य तन्मनसः स्पन्दनमात्रं न परमार्थत इति उक्तार्थौ श्लोकौ ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

सत्ता स्वरूप है। उनके विषय में नित्य, अनित्य, ऐसे शब्द की भी प्रवृत्ति नहीं होती। जहाँ जिन लोगों के बीच में जो भी पदार्थ बतलाते हैं, वे वर्ण अर्थात शब्द भी वास्तव में नहीं है। अतः उन्हें बतलाने के लिये शब्दों की भी प्रवृत्ति नहीं होती। 'यह ऐसा ही है' यानी नित्य है या अनित्य है, इस प्रकार का विवेक भी संभव नहीं है। इसीलिये श्रुति भी कहती है 'जहाँ से वाणी लौट आती है' ॥६०॥

इसके अतिरिक्त परमार्थतः अद्वय विज्ञानमात्र आत्मा में वाणी विषयत्व का होना भी मन का स्फुरण मात्र ही है। वह परमार्थदृष्टि

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान्स्वेजान्वाऽपि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥६३॥
स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥६४॥

[स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में घूमता हुआ दशों दिशाओं में स्थित जिन स्वेदज या अण्डज प्राणियों को सदा देखता है, (वास्तव में वे स्वप्न द्रष्टा से भिन्न नहीं होते) ॥ ६३ ॥]

[स्वप्न द्रष्टा के चित्त से देखे जाने वाले वे दृश्य पदार्थ, उससे (स्वप्न द्रष्टा के चित्त से) पृथक नहीं है। उसी प्रकार उस स्वप्न द्रष्टा का यह चित्त भी उस स्वप्न द्रष्टा का दृश्य ही है। (अर्थात् स्वप्न द्रष्टा से भिन्न चित्त कुछ भी नहीं) ॥६४॥]

इतश्च वाग्गोचरस्याभावो द्वैतस्य। स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्नदृक्प्रचरन्पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु वै दशसु स्थितान्वर्तमानाञ्जीवान्प्राणिनोऽण्डजान्स्वेदजान्वा यान्सदा पश्यतीति। यद्येवं ततः किम्। उच्यते ॥६३॥

स्वप्नदृशश्चित्तं स्वप्नदृक्चित्तम्। तेन दृश्यास्ते जीवास्ततस्त-

---

से नहीं है। इसप्रकार इन दोनों श्लोकों का व्याख्यान पहले अद्वैतप्रकरण में हो चुका है ॥६१-६२॥

स्वप्न के समान द्वैत भी नहीं है

इसलिये भी वाणी का विषय द्वैत का अभाव है। जो स्वप्नों को देखता है, वह स्वप्नद्रष्टा कहा जाता है। वही स्वप्नद्रष्टा स्वप्नस्थानों में भ्रमण करता हुआ दशों दिशाओं में वर्तमान जिन किन्हीं स्वेदज या अण्डज प्राणियों को देखता है, वे वास्तव में स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं है ॥६३॥

यदि ऐसी बात है, तो इससे सिद्ध क्या हुआ ? इस पर कहते

चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान्स्वेदजान्वाऽपि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥६५॥
जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥६६॥

[जाग्रदवस्था में घूमता हुआ जाग्रत् का साक्षी दशों दिशाओं में स्थित जिन अण्डज या स्वेदज जीवों को सदा देखता है ॥ वे जाग्रद् चित्त के दृश्य (स्वप्न चित्त दृश्य के समान ही) जाग्रत् द्रष्टा के चित्त से पृथक नहीं हैं । वैसे ही यह जाग्रत् चित्त भी जाग्रत् द्रष्टा का दृश्य माना जाता है । अतः यह भी द्रष्टा से भिन्न नहीं है ॥६५-६६॥]

स्मात्स्वप्नदृक्चित्तात्पृथङ्न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः । चित्तमेव ह्यनेक-जीवादिभेदाकारेण विकल्प्यते । तथा तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं तद्-दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं तद्दृश्यम् । अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्तीत्यर्थः ॥६४॥

जाग्रतो दृश्या जीवास्तच्चित्ताव्यतिरिक्ताश्चित्तेक्षणीयत्वात्स्वप्न-

---

हैं—कि स्वप्नदृक् चित्त अर्थात् स्वप्नद्रष्टाका चित्त, उस चित्त से देखे जाने वाले वे जीव उस स्वप्नद्रष्टा के चित्त से पृथक् नहीं हैं, यह इसका अभिप्राय है । चित्त ही अनेक जीवादि भेदरूप से विकल्पित होता है । ऐसे ही जीवादि के समान वह स्वप्न द्रष्टा का चित्त भी उसका दृश्य ही है । क्योंकि उस स्वप्न द्रष्टा से वह चित्त भी देखा जाता है । इसीलिये अन्यवस्तु के समान चित्त भी स्वप्नद्रष्टा का दृश्य है । कल्पितदृश्य द्रष्टा से भिन्न नहीं होता । अतः भाव यह है कि स्वप्न द्रष्टा से भिन्न उसका चित्त कुछ भी नहीं है ॥६४॥

उक्तार्थ का दार्ष्टान्त में समन्वय

जगे हुए पुरुष को दीखने वाले जीव उसके चित्त से भिन्न नहीं

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति चोच्यते ।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥६७॥

[वे (चित्त और चित्त के विषय जीव) दोनों एक दूसरे के दृश्य हैं । वे क्या वस्तु हैं ? (इसके उत्तर में विवेकी लोग कहते हैं कि) कुछ भी नहीं कहा जा सकता (क्योंकि स्वप्न के हाथी और उसे ग्रहण करने वाला चित्त दोनों ही अनिर्वचनीय हैं) ये दोनों ही प्रमाण शून्य हैं और केवल तच्चित्तता से ही ग्रहण किये जाते हैं भाव यह कि उनमें प्रमाण और प्रमेय के भेद की कल्पना असंभव है ॥६७॥]

दृश्चित्तेक्षणीयजीववत् । तच्च जीवेक्षणात्मकं चित्तं द्रष्टुरव्यतिरिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत् । उक्तार्थमन्यत् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

जीवचित्ते उभे चित्तचैत्ये ते अन्योन्यदृश्ये इतरेतरगम्ये । जीवा-

---

हैं, क्योंकि वे सभी चित्त से देखे जाते हैं । स्वप्नद्रष्टा के चित्त से दीखने वाले जीव के समान अर्थात् जैसे स्वप्नद्रष्टा के चित्त से देखे जाने वाले जीव में चित्त दृश्यत्त्व है और चित्त से अभिन्नत्व है, वैसे ही जाग्रत पुरुष के चित्त से दीखने वाले जीव में भी चित्त-दृश्यत्व हेतु है । अतः उसमें भी उसके चित्त से अभिन्नत्व रूप साध्य की सिद्धि हो जायगी । जैसे चित्त दृश्य चित्त से अभिन्न है, वैसे ही जीवों को देखने वाला चित्त अपने द्रष्टा से अभिन्न है । क्योंकि अपने द्रष्टा का दृश्य वह भी है स्वप्नचित्त, के समान अर्थात् जैसे स्वप्नचित्त में स्वप्न द्रष्टा का दृश्यत्त्व रूप हेतु है, एवं द्रष्टा से अभिन्नत्व रूप साध्य भी है । वैसे ही जीव को देखने वाले चित्त में द्रष्टृ दृश्यत्व हेतु के विद्यमान रहने से द्रष्टा से अभिन्नत्त्वरूप साध्य की सिद्धि हो जाती है । शेष अर्थ पहले दृष्टान्त व्याख्यान द्वारा स्पष्ट हो चुका है ॥६५-६६॥

चित्त से दीखने वाले जीव और उसका द्रष्टा चित्त (मन)

दिविषयापेक्षं हि चित्तं नाम भवति। चित्तापेक्षं हि जीवादि दृश्यम्। अतस्ते अन्योन्यदृश्ये। तस्मान्न किंचिदस्तीति चोच्यते चित्तं वा चित्तेदृणीयं वा किं तदस्तीति विवेकिनानोच्यते। न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं वा विद्यते तथेहापि विवेकिनामित्यभिप्रायः। कथम्। लक्षणाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा प्रमाणं प्रमाणशून्य-मुभयं चित्तं चैत्यं द्वयं यतस्तन्मतेनैव तच्चित्ततथैव तद्गृह्यते। न हि घटमतिं प्रत्याख्याय घटो गृह्यते नापि घटं प्रत्याख्याय घटमतिः। न हि तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः शक्यते कल्पयितुमित्यभिप्रायः ॥६७॥

यानी चित्त और चित्त के विषय ये दोनों ही परस्पर एक दूसरे से जानने योग्य है, क्योंकि जीवादि विषय की अपेक्षा से चित्त है और चित्त की अपेक्षा से जीवादि विषय हैं। अतः वे दोनों परस्पर दृश्य हैं। इसी अन्योऽन्य विषयत्व के कारण वस्तुतः वे कुछ भी नहीं हैं। इसीलिये जब कोई प्रश्न करता है, वे क्या हैं? तो विवेकशील व्यक्ति को यही उत्तर देना पड़ता है कि चित्त या चित्तदृश्य दोनों में से एक भी सत्य नहीं है। जैसे स्वप्न में दीखने वाला हाथी और उसका देखने वाला चित्त है नहीं, ठीक वैसे ही जाग्रत् के सभी वस्तु और उसके देखने वाले चित्त के सम्बन्ध में विवेकशील पुरुषों को मिथ्यात्त्व बतलाना ही अभीष्ट है।

कैसे? क्योंकि वे चित्त और चैत्य उनके विषय दोनों ही प्रमाणशून्य हैं, जिससे कोई पदार्थ लक्षित होता हो उसे लक्षणा यानी प्रमाण कहते हैं। वे तन्मयता से ही गृहीत होते हैं, क्योंकि घट बुद्धि को त्यागकर न तो घट का ही ग्रहण होता है, और न घट को छोड़कर घट बुद्धि ही गृहीत होती है। ऐसी परिस्थिति में कौन प्रमाण है, और कौन प्रमेय है? ऐसे प्रमाण और प्रमेयभेद की कल्पना नहीं की जा सकती है ॥६७॥

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६८॥
यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६९॥
यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥७०॥

[जैसे स्वप्न का जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही ये जाग्रद् के जीव उत्पन्न होते और मरते हैं ॥६८॥]

[जैसे मायामय जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही ये सब जीव उत्पन्न होते और मरते भी हैं ॥६९॥]

[जैसे (मन्त्र औषाधादि से) रचा हुआ जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही ये जाग्रद के सभी मनुष्यादि जीव उत्पन्न होते और मरते भी हैं ॥७०॥

मायामयो मायाविना यः कृतो निर्मितको मन्त्रौषध्यादिभिर्निष्पादितः । स्वप्नमायानिर्मितका अण्डजादयो जीवा यथा जायन्ते म्रियन्ते च यथा मनुष्यादिलक्षणा अविद्यमाना एव चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः ॥६८॥६९॥७०॥

मायावी ने जिस मायामय पदार्थ को रचा, मन्त्र और औषधी आदि से निर्मित्त जिस पदार्थ का संपादन किया। स्वप्न माया और मन्त्रादि से बने हुए अण्डज आदि जीव जैसे उत्पन्न होते और मरते भी हैं। वैसे ही मनुष्यादिरूप जीव अविद्यमान होते हुए भी चित्त की कल्पनामात्र ही हैं। यही तीनों श्लोकों का तात्पर्य है ॥६८-६९-७०॥

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥७१॥
चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम् ।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥७२॥

[वास्तव में कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसके जन्म की संभावना ही नहीं है। उत्तम सत्य यही है कि जहाँ पर कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती ॥७१॥

[विषय और इन्द्रियों से युक्त यह सम्पूर्ण द्वैत चित्त का स्फुरण मात्र है। पर चित्त (परमार्थतः आत्मा होने से) निर्विषय है। अतएव वह चित्त नित्य असंग कहा गया है (जो सविषय होता है ऐसे चित्त का ही विषय के साथ सङ्ग हो सकता है) ॥७२॥]

व्यवहारसत्यविषयजीवानां जन्ममरणादिः स्वप्नादिजीववदित्युक्तम्। उत्तमं तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते जीव इति। उक्तार्थमन्यत् ॥७१॥

सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव द्वयं चित्तं परमार्थत आत्मै-

---

सर्वोत्तमसत्य अजाति ही है

व्यावहारिक सत्ता में भी जीवों के जो जन्म मरणादि हैं, वे स्वप्नादि जीवों के समान ही हैं, ऐसा अभी कह आये हैं। सर्वोत्तम-सत्य तो यही है कि कोई भी जीव उत्पन्न होता ही नहीं। अक्षरों का व्याख्यान अद्वैतप्रकरण के अन्तिम श्लोक में कर आये हैं। अतः शेष अंश की व्याख्या अनावश्यक है ॥७१॥

निर्विषय होने से चित्त असंग है

विषय और इन्द्रियों से युक्त सम्पूर्ण द्वैत चित्त का स्पन्दन ही है। वह चित्त परमार्थतः आत्मस्वरूप ही है। अतः वह निर्विषय है।

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥७३॥

[कल्पित व्यवहार से जो भी शास्त्रादि पदार्थ दीखता है, वह परमार्थ से नहीं है और यदि परमतावलम्बियों के शास्त्र व्यवहार से पदार्थ भी हो तो भी परमार्थतः निरुपण करने पर वह सिद्ध नहीं हो सकता (इससे उसकी असंगता युक्त ही है) ॥७३॥]

वेति निर्विषयं तेन निर्विषयत्वेन नित्यप्रसङ्गं कीर्तितम् । "असङ्गो ह्ययं पुरुषः बृ० ४।३।१५।१६" इति श्रुतेः । सविषयस्य हि विषये सङ्गः । निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः ॥७२॥

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं चित्तस्य न निःसङ्गता भवति यस्माच्छास्ता शास्त्रं शिष्यश्चेत्येवमादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात् । नैष दोषः । कस्मात् । यः पदार्थः शास्त्रादिर्विद्यते स कल्पितसंवृत्या

उसी निर्विषयता के कारण वह चित्त सर्वदा असंग कहा गया है, क्योंकि 'यह पुरुष असंग ही है' ऐसा श्रुति भी कहती है। विषय युक्त चित्त का ही अपने विषय में संग हुआ करता है, यह तो निर्विषय है। अतएव यह चित्त असंग है। यह इसका तात्पर्य है ॥७२॥

पारमार्थिक दृष्टि से व्यावहारिक वस्तु मिथ्या ही है

पू०—यदि निर्विषय होने से ही किसी वस्तु में असंगता होती है तो चित्त की निःसंगता कभी भी हो नहीं सकती, क्योंकि गुरु, शास्त्र और शिष्य इत्यादि उसके विषय विद्यमान है ?

सि०—यह दोष नहीं है। क्योंकि जो भी शास्त्रादि पदार्थ हैं, वे कल्पित व्यावहारिक दृष्टि से ही हैं और परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति के उपाय रूप से उस संवृत्ति की कल्पना मात्र की गयी है। ऐसे

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥७४॥

[शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा "अज" कहा जाता है। परमार्थ दृष्टि से वह अज भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों से सिद्ध (भ्रान्तिजन्य) व्यवहार के कारण ही वह उत्पन्न होता है ऐसा माना गया है ।७४।]

कल्पिता च सा परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा तया योऽस्ति परमार्थेन नास्त्यसौ न विद्यते । ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम् । यश्च परतन्त्राभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात्पदार्थः स परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्त्येव । तेन युक्तमुक्तप्रसङ्गं तेन कीर्तितमिति ॥७३॥

ननु शास्त्रादीनांसंवृतित्वेऽज इतीयमपि कल्पना संवृतिः स्यात् । सत्यमेवम् । शास्त्रादिकल्पितसंवृत्यैवाज इत्युच्यते । परमार्थेन

कल्पित व्यवहार से जो पदार्थ सत्तावाला प्रतीत होता है, वह परमार्थ दृष्टि से सत्य नहीं है, क्योंकि परमार्थतत्त्व के ज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रह जाता, ऐसा पहले आगम प्रकरण में कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त अन्य वैशेषिक के पारिभाषिक व्यवहारानुरोध से जो पदार्थ सिद्ध है, वह परमार्थदृष्टि से निरूपण किये जाने पर है ही नहीं। इसलिये यह कथन ठीक ही है कि 'वह असंव बतलाया गया है' कल्पितपरिभाषा के आधार पर कही गयी वस्तु की सत्ता परमार्थदृष्टि से जब सिद्ध ही नहीं होती तो चित्त का निर्विषय होना उचित ही है। इसीलिये इसे असंग बतलाना भी युक्तियुक्त ही है ॥७३॥

कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा में अजत्व की कल्पना

पू०—यदि शास्त्रादि को व्यावहारिक मानोगे, तो आत्मा 'अज

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ॥७५॥

[असत्य द्वैत में लोगों का केवल आग्रह है वहाँ (परमार्थ वस्तु में) द्वैत की गन्ध भी नहीं, (क्योंकि मिथ्या आग्रह ही जीव के जन्म का कारण है) अतः द्वैतभाव को जानकर ही निमित्त रहित वह जीव फिर उत्पन्न नहीं होता ॥७५॥

नाप्यजः । यस्मात्परतन्त्राभिनिष्पत्त्या परशास्त्रप्रसिद्धिमपेक्ष्य योऽजः इत्युक्तः स संवृत्याजायते । अतोऽज इतीयमपि कल्पना परमार्थविषये नैव क्रमत इत्यर्थः ॥७४॥

यस्मादसद्विषयस्तस्मादसत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशोऽस्ति केवलमभिनिवेश आग्रहमात्रम् । द्वयं तत्र न विद्यते । मिथ्याभिनिवेशमात्रं च

है' ऐसी कल्पना भी व्यवहारिक ही सिद्ध होगी ?

सि०—यह बात तो ऐसी ही है । शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा अज है ऐसा कहा जाता है, परमार्थ दृष्टि से तो वह अज भी नहीं है, क्योंकि जब अन्य दार्शनिक उसे जन्मने वाला मानते हैं तो इन शास्त्रों की सिद्धि की अपेक्षा से आत्मा अज है ऐसा कह दिया गया है जब उसका जन्म ही व्यवहार दृष्टि से होता है तो भला अजत्व कल्पना भी व्यावहारिक हो, इसमें क्या आपत्ति है । अतः वह अज है, ऐसी कल्पना परमार्थ विषय में प्रवेश ही नहीं करती । हाँ अजत्वादि व्यवहार से उपलक्षित स्वरूप चिन्मात्र तत्त्व अकल्पित अवश्य है, क्योंकि वह सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान है ॥७४॥

द्वैताभिनिवेश से जन्म होता है

क्योंकि विषय असत्य है । अतः असत्यरूप द्वैत में केवल

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान् ।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥७६॥

[जब चित्त उत्तम (देवत्व आदि का कारण), मध्यम (मनुष्यत्वादि प्राप्ति के कारण) और अधम (पश्वादि योनि प्राप्ति के कारण) हेतुओं को प्राप्त नहीं करता तब (परमार्थ बोध हो जाने से) उसका जन्म भी नहीं होता, क्योंकि हेतु के अभाव में फल कहाँ से होगा ॥७६॥]

जन्मनः कारणं यस्मात्तस्माद्द्वयाभावं बुद्ध्वा निर्निमित्तो निवृत्तिर्मिथ्याद्वयाभिनिवेशो यः स न जायते ॥७५॥

जात्याश्रमविहिता आशीर्वर्जितैरनुष्ठीयमाना धर्मा देवत्वादिप्राप्तिहेतव उत्तमाः केवलाश्च धर्माः । अधर्मव्यामिश्रा मनुष्यत्वादिप्राप्त्यर्था मध्यमाः । तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता अधर्मलक्षणा प्रवृत्तिविशेषाश्चा-

---

अविवेकी पुरुषों का अभिनिवेश (आग्रह) मात्र ही रहा है। परमार्थ-वस्तु द्वैत तो है ही नहीं। जब कि मिथ्याभिनिवेश मात्र ही जीव के जन्ममरणादि दुःख का कारण है। अतः द्वैताभाव को साक्षात् जानकर जो निमित्तरहित हो गया है अर्थात् मिथ्या द्वैत विषय में जिसका अभिनिवेश (आग्रह) मिट गया है, वह फिर जन्म नहीं लेता ॥७५॥

कामनारहित पुरुषोंद्वारा वर्णाश्रमादिविहित धर्म का अनुष्ठान किये जाने पर जो केवल धर्म ही है अर्थात् अधर्म मिश्रित नहीं है, वे देवत्वप्राप्ति के हेतु माने जाते हैं और जो मनुष्यत्वादिप्राप्ति के कारण अधर्ममिश्रित धर्म हैं, वे मध्यम कोटि के कारण है एवं तिर्यगादियोनियों की प्राप्ति के निमित्त अधर्ममयी विशेष प्रवृत्तियाँ हैं वे अधम कोटि के हेतु हैं। जब सम्पूर्ण कल्पना से रहित एवं

अनिमित्तस्य चित्तस्य याऽनुत्पत्तिः समाऽद्वया ।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥७७॥

[(इस प्रकार परमार्थ ज्ञान के द्वारा धर्माधर्मादि) निमित्त के निवृत हो जाने पर चित्त की जो मोक्ष नामक अनुत्त्पत्ति है, वह सर्वथा निर्विशेष और अद्वितीय है, (क्योंकि बोध से पूर्व भी) सभी अजात चित्त की अनुत्पत्ती समान ही थी। चित्त दृश्य का जन्म तो कल्पना मात्र है ॥७७॥]

घमाः। तानुत्तममध्यमाधमानविद्यापरिकल्पितान्यदैकमेवाद्वितीय-मात्मतत्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं जानन्न लभते न पश्यति यथा बालैर्दृश्यमानं गगनतलमलं विवेकी न पश्यति तद्वत्तदा न जायते नोत्पद्यतेचित्तं देवाद्याकारैरुत्तमाधममध्यमफलरूपेण। न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते बीजाद्यभाव इव सस्यादि ॥७६॥]

हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति ह्युक्तम्। सा पुनरनुत्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीत्युच्यते। परमार्थदर्शनेन निरस्तधर्माधर्माख्योत्पत्तिनिमि-

---

अद्वितीय आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है उस समय उत्तम, मध्यम और अधम अविद्या परिकल्पित उन हेतुओं को साधक वैसे ही नहीं प्राप्त करता, जैसे गगन में अज्ञानियों के द्वारा देखी गयी तलमलीनता को विवेकी पुरुष नहीं देखता। अतएव उस समय उत्तम, मध्यम और अधम फल रूप से देवादिशरीरों में तत्त्वज्ञानी पुरुष जन्म नहीं लेता। जैसे बीजादि के अभाव में अन्नादि उत्पन्न नहीं होते, वैसे ही हेतु के न रहने पर फल की उत्पत्ति भी नहीं होती। इस प्रकार अज्ञानियों के द्वारा देखे गये हेतु ज्ञानियों को सर्वथा नहीं दीखते, इस बात को सिद्ध कर दिया गया है ॥७६॥

हेतु के अभाव में चित्त उत्पन्न नहीं होता, ऐसा पहलेकहा जा चुका है। पर वह चित्त की अनुत्पत्ति कैसी है? इस पर कहते हैं—

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन् ।
वीतशोकं तथाकाममभयं पदमश्नुते ॥७८॥

[अनिमित्तता को ही परमार्थ रूप जानकर और देवादि योनियों की प्राप्ति के लिये किसी) अन्य धर्मादि कारण को न प्राप्त कर विद्वान् शोक और काम से मुक्त हो अभय पद को प्राप्त कर लेता है ॥७८॥]

तस्यानिमित्तस्य चित्तस्येति या मोक्षाख्याऽनुत्पत्तिः सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा निर्विशेषाऽद्वया च। पूर्वमप्यजातस्यैवानुत्पन्नस्य चित्तस्य सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः। यस्मात्प्रागपि विज्ञानाच्चित्तदृश्यं तद्द्वयं जन्म च तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समाऽद्वयैवानुत्पत्तिर्न पुनः कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न भवति। सर्वदैकरूपैवेत्यर्थः ॥७७॥

यथोक्तेन न्यायेन जन्मनिमित्तस्य द्वयस्याभावादनिमित्ततां च

परमार्थ तत्त्व के अपरोक्षानुभव से जन्म का कारण धर्माधर्म जिसका निवृत्त हो गया है, उस निमित्त रहित चित्त की जो मोक्ष नामक अनुत्पत्ति है, वह निर्विशेष अद्वितीय रूप से सर्वदा सभी अवस्थाओं में समान ही है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति रहित सर्वाधिष्ठान अद्वितीय चित्त की अनुत्पत्ति रूप मोक्ष पूर्व से ही सिद्ध है, क्योंकि तत्त्व ज्ञान से पूर्व भी जो चित्त दृश्य उत्पन्न हो रहा था वह वस्तुतः अद्वितीय रूप ही था। अतः उत्पत्ति रहित सभी चित्त की सर्वदा समान ही अद्वय रूपता और अनुत्पत्ति है। ऐसा नहीं कि कभी उत्पत्ति होती है और कभी नहीं होती। भाव यह है कि चित्त की अद्वय रूपता और अनुत्पत्ति सभी अवस्थाओं में समान ही है। अतः रज्जुसर्प की भाँति द्वैत और उसका जन्म मिथ्या है ॥७७॥

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते ।
वस्त्वभावं स बुद्ध्यैव निःसङ्गं विनिवर्तते ॥७९॥

[असत्य द्वैत के सत्यत्त्वाग्रह से ही चित्त तदनुरूप विषयों में प्रवृत्त होताहै और द्वैत वस्तु के अभाव को जानकर ही (मिथ्याभिनिवेशजन्य विषय से) वह निस्संगत होकर लौट आता है।७६।]

सत्यां परमार्थरूपां बुद्ध्वा हेतु धर्मादिकारणं देवादियोनिप्राप्तये पृथगनाप्नुवन्ननुपाददानस्त्यक्तबाह्यैषणः सन्कामशोकादिवर्जितम-विद्यादिरहितमभयं पदमश्नुते पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥७८॥

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वयेऽद्वयास्तित्वनिश्चयोऽभूताभिनिवेश-स्तस्मादविद्याव्यामोहरूपाद्धि सदृशे तदनुरूपं तच्चित्तं प्रवर्तते। तस्य

तत्त्वज्ञानी अभयपद प्राप्त करता है

जब कि पूर्वोक्त न्याय से जन्म के निमित्त द्वैत का अभाव है। अतः निमित्त रहित सत्य को ही पारमार्थिक रूप जानकर और देवादि योनियों की प्राप्ति में किसी अन्य धर्मादि को कारण न मानता हुआ सम्पूर्ण बाह्य ऐषणाओं से मुक्त तत्त्वज्ञानी कामना एवं शोकादि से रहित, अविद्या से शून्य अभय पद को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि त्रिकालाबाधित सत्य में जन्म का कोई निमित्त नहीं है और जन्म के हेतु वादियों से स्वीकृत धर्माधर्मादि भी सिद्ध न हो सके। ऐसी स्थिति में उक्त रहस्य को जानने वाले विद्वान का फिर जन्म नहीं होता, किन्तु वह अभयपद को प्राप्त कर लेता है ॥७८॥

क्योंकि द्वैत वस्तुतः असत् है, ऐसे मिथ्या द्वैत में सत्यत्त्व का आग्रह ही अभूताभिनिवेश है। इस अविद्याजनितमोहरूप अभूताभिनिवेश के कारण ही वह चित्त अपने अनुरूप (अभूतभिनिविवेश विषयों में प्रविष्ट होता है, किन्तु जब वह उस अद्वैत वस्तु के

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥८०॥

[उस समय द्वैत विषय से निवृत्त और विषयान्तर में अप्रवृत्त चित्त की निश्चल ब्रह्म स्वरूपा स्थिति हो जाती है। तत्त्वदर्शी पुरुषों का ही वह विषय है और वह निर्विशेष अज एवं अद्वितीय है ॥८०॥]

द्वयस्य वस्तुनोऽभावं यदा बुद्धवांस्तदा तस्मान्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्ततेऽभूताभिनिवेशविषयात् ॥७९॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्यावदर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलनवर्जिता ब्रह्मस्वरूपा स्थितिश्चित्तस्याद्वयविज्ञानैकरसघनलक्षणा। स हि यस्माद्विषयो गोचरः परमार्थदर्शिनां बुद्धानां तस्मात्तत्साम्यं परं निर्विशेषमजमद्वयं च ॥८०॥

अभाव को समझ लेता है, तब उस मिथ्याभिनिवेश जन्य विषय से निःसंग यानी निरपेक्ष हो सर्वदा के लिये लौट आता है ॥७९॥

मनोवृत्तियों की सन्धिकाल में ब्रह्मतत्त्व का दर्शन

जिस समय द्वैतविषय से चित्त निवृत्त हो जाता है और विषयान्तर में प्रवृत्त नहीं होता। उस समय द्वैताभाव का निश्चय हो जाने के कारण चित्त की स्थिति निश्चल, चलन क्रिया से शून्य ब्रह्मस्वरूप ही हो जाती है। यह जो ब्रह्मस्वरूपा अद्वय विज्ञानैकरसघनरूपा ब्रह्ममयी चित्त की स्थिति है वह परम साम्य, निर्विशेष, अज और अद्वयरूप है, क्योंकि यह केवल परमार्थ तत्त्वदर्शी ज्ञानियों का ही विषय है ॥८०॥

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुःस्वभावतः ॥८१॥
सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥८२॥

[वह अज निद्रा रहित, स्वप्न रहित और (आदित्यादि की अपेक्षा न रखने वाला) स्वयं प्रकाश है । यह (आत्मा नामक) धर्म वस्तु स्वभाव से ही सदा भासमान् है ॥८१॥]

[वह अद्वय आत्मा जिस किसी द्वैत वस्तु के मिथ्याभिनिवेश के कारण सहज ही आवृत हो जाता है और (परमार्थ बोध दुर्लभ होने के कारण) सदा कठिनाई से प्रकट होता है ॥८२॥

पुनरपि कीदृशश्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह—स्वयमेव तत्प्रभातं भवति नाऽऽदित्याद्यपेक्षं स्वयंज्योतिःस्वभावमित्यर्थः । सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतत् । एष एवंलक्षण आत्माख्यो धर्मो धातुस्वभावतो वस्तुस्वभावत इत्यर्थः ॥८१॥

एवमुच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं कस्माल्लौकिकैर्न गृह्यत इत्यु-

आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप

वह ज्ञानियों का ही विषय किस प्रकार है ? इस पर फिर से कहते हैं—क्योंकि वह स्वयं ही प्रकाशित होता है । यानी वह अपने प्रकाश के लिये आदित्यादि की अपेक्षा नहीं रखता । इसलिये वह स्वयं प्रकाश स्वभाव वाला है । यह ऐसे लक्षण वाला आत्मानामक धर्म धातु स्वभाव यानी वस्तु स्वभाव से ही 'सकृद्विभात' अर्थात् सदा प्रकाशमान् है ॥८१॥

आत्मदर्शन में मिथ्याभिनिवेश ही बाधक है

इस प्रकार श्रुति औरआचार्य द्वारा बतलाये जाने पर भी उस

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ती नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥८३॥

[(कोई वादी कहता है) आत्मा है, (दूसरा वैनासिक कहता है) आत्मा नहीं है, (तीसरा अर्धवैनासिक दिगम्बर कहता है) है और नहीं भी है और (शून्य वादी कहता है कि) 'नहीं है नहीं है । इनमें क्रमशः इस प्रकार) चल, स्थिर, उभय रूप और अभाव रूप कोटियों से विवेक हीन पुरुष (अद्वय आत्मा को) आच्छादित ही करते हैं ॥८३॥]

च्यते—यस्माद्यस्य कस्यचिद् द्वयवस्तुनो धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुखमाव्रियतेऽनायासेनाऽऽच्छत इत्यर्थः । द्वयोपलब्धिनिमित्तं हि तत्राऽऽवरणं न यत्नान्तरमपेक्षते । दुःख च विव्रियते प्रकटी क्रियते । परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वात् । भगवानसावात्माऽद्वयो देव इत्यर्थः । अतो वेदान्तैराचार्यैश्च बहुश उच्चमानोऽपि नैव ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः । "आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" क० १।२।७ इति इति श्रुतेः ॥८२॥

परमार्थतत्त्व को लौकिक पुरुष क्यों नहीं जान पाते ? इस पर कहते हैं—क्योंकि जिस किसी द्वैत वस्तु रूप धर्म में आग्रह कर लेने से मिथ्याभिनिवेश के कारण ही अद्वय आत्मदेव रूप भगवान् अनायास ही ढक जाता है अर्थात् सहज में आवृत हो जाता है, क्योंकि द्वैत की उपलब्धि ही इसके आवरण में निमित्त है । वहाँ किसी अन्य यत्न की अपेक्षा नहीं होती और परमार्थज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होने के कारण आवरण के हटाने में बड़ा कष्ट करना पड़ता है । इसीलिये वेदान्ताचार्यों के अनेक प्रकार से कहने पर भी वह जाना नहीं जाता, यही इसका अभिप्राय है । इसीलिये ये 'इसका वर्णन करने वाला आश्चर्य रूप हैं तथा इसे जानने वाला भी कोई-

अस्ति नास्तीत्यादिसूक्ष्मविषया अपि पण्डितानां ग्रहा भगवतः परमात्मन आवरणा एव किमुत मूढजनानां बुद्धिलक्षणा इत्येवमर्थं प्रदर्शयन्नाह—अस्तीति। अस्त्यात्मेति वादी कश्चित्प्रतिपद्यते। नास्तीत्यपरो वैनाशिकः। अस्ति नास्तीत्यपरोऽर्धवैनाशिकः। सदसद्वादी दिग्वासाः। नास्ति नास्तीत्यत्यन्तशून्यवादी। तत्रास्तिभावश्चलः, घटाद्यनित्यविलक्षणत्वात्। नास्तिभावः स्थिरः सदाविशेषत्वात्। उभयं चलस्थिरविषयत्वात्सदसद्भावोऽभावोऽत्यन्ताभावः। प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदादिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमावृणोत्येव बालिशोऽविवेकी। यद्यपि पण्डितो

कोई कुशल पुरुष ही होता है' इस श्रुति से भी आत्म दर्शन की दुर्लभता ही सिद्ध होती है ॥८२॥

मिथ्याभिनिवेश ही परमार्थ का आवरक है

आत्मा है, नहीं है, इत्यादि जो सूक्ष्म विषय में पण्डितों के आग्रह हैं, ये सब भी जब परमात्मा के आवरण करने वाले ही हैं फिर शरीरादि को ही आत्मा मानना इत्यादि बुद्धि रूप—मूर्ख लोगों के आग्रहों की तो बात ही क्या? इसी कैमुतिकन्यायरूप अर्थ को दिखलाते हुए कहते हैं—'आत्मा है' ऐसा कोई वादी कहता है। दूसरा वैनाशिक कहता है कि 'आत्मा नहीं है'। तीसरा अर्द्ध वैनासिक सदसद्वादी दिगम्बर कहता है कि 'आत्मा है और नहीं भी है।' अत्यन्त शून्यवादी कहता है कि 'आत्मा नहीं है नहीं है'। इनमें 'आत्मा है' इस प्रकार अस्तिभाव चल है, क्योंकि वह घटादि अनित्य वस्तु से विलक्षण है। चल शब्द का अर्थ परिणामी होता है। घटादि का जानने वाला सुखादिरूप विशेष धर्मों से युक्त होने के कारण परिणामी कहा गया है। नास्ति भाव द्वितीय कल्प स्थिर है, क्योंकि अभाव सदा अविशेष रूप से रहता है। परिणामी और स्थिर दोनों को विषय करने के कारण सदसद्भाव उभय रूप है एवं अभाव

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदाऽऽवृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥८४॥

[जिनके मिथ्याभिनिवेश से सदा ही आत्मा आच्छादित रहता है, वे ही ये चार कोटियाँ हैं। इनके स्पर्श से शून्य अद्वय आत्मा को वेदान्तों में जिसने देखा है, वही परमार्थ को जानने वाला है ॥ ८४ ॥]

बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः ॥८३॥

कीदृक्पुनः परमार्थतत्त्वं यदवबोधादबालिशः पण्डितो भवतीत्याह—कोटयः प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ता एता उक्ता अस्ति नास्तीत्याद्याश्चतस्रो यासां कोटीनां ग्रहैर्ग्रहणैरुपलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदाऽऽवृत आच्छादितस्तेषामेव प्रावादुकानां यः स भगवानाभिरस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरप्यस्पृष्टोऽस्त्यादिविकल्पनावर्जित

अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार इन चल, स्थिर, उभय और अभाव रूप चारों प्रकार से सभी सदसद्वादी छोटे बालक के समान अविवेकी भगवान् को ढकते ही हैं। यद्यपि ये पण्डित हैं, तो भी परमार्थतत्त्व को न जानने के कारण वास्तव में मूर्ख ही हैं। फिर भला स्वभाव से ही मूर्ख लोगों की तो बात ही क्या ? ॥८३॥

जिसके बोध होने से मनुष्य अबालिश (पण्डित) हो जाता है, वह आखिर परमार्थतत्त्व कैसा है ? इस पर कहते हैं—प्रावादुकों के शास्त्र द्वारा निर्णय की हुई ये अस्ति, नास्ति आदि चार कोटियाँ हैं। जिन कोटियों के ग्रहण से ही यानी उन प्रावादुकों के इस उपलब्धिजन्य निश्चय से जो भगवान् सदा ढका हुआ है, उसे अस्ति, नास्ति आदि चारों कोटियों से विकल्प रहित जो वादी देखते हैं ऐसे जिस मुनि से उपनिषद के समधिगम्य पुरुष रूप से वेदान्तों

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥८५॥

[पूर्वोक्त सर्वज्ञता और आदि, मध्य तथा अन्त से रहित अद्वितीय ब्रह्मण्य पद को प्राप्त करके भी क्या फिर कोई चेष्टा कर सकता है ? ॥ ८५ ॥]

इत्येतत् । येन मुनिना दृष्टोज्ञातो वेदान्तेष्वौपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक्सर्वज्ञः परमार्थपण्डित इत्यर्थः ॥८४॥

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं स ब्राह्मणः (बृ० ६८१०) "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य (बृ० ४।४।२३)" इति श्रुतेः । आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिलया अनापन्ना अप्राप्ता यस्याद्वयस्य पदस्य न विद्यते तदनापन्नादिमध्यान्तं ब्राह्मण्यं पदम् । तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परमस्मादात्मलाभादूर्ध्वमीहते चेष्टते निष्प्रयोजनमित्यर्थः । "नैव तस्य कृतेनार्थः (गी० ३.१८)" इत्यादिस्मृतेः ॥८५॥

में जाना गया है । वही सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ यानी परमार्थतत्त्व का पण्डित है ॥८४॥

तत्त्वज्ञानी की शान्ति ।

"जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से जाता है वह ब्राह्मण है" "यह ब्राह्मण की शाश्वत महिमा" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जो ब्राह्मण्य पद को और पूर्वोक्त सम्पूर्ण सर्वज्ञता को प्राप्त करता है । वह ब्रह्मवित् पुरुष किसी वस्तु की चेष्टा नहीं करता है, क्योंकि जिस अद्वयपद के आदि मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय नहीं होता, वह ब्राह्मण्य पद अनापन्नादिमध्यान्त कहा गया है । उसको पाकर इस लाभ के अनन्तर कोई प्रयोजन न रह जाने पर

विप्राणांविनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ॥८६॥

[(आत्म स्वरूप में स्थित होना रूप) यह विनय ब्राह्मणों का स्वाभाविक है। यही स्वाभाविक शम भी कहा जाता है और स्वभाव से ही जितेन्द्रिय होने के कारण यही उनका दम भी है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष ब्रह्म स्वरूपा शान्ति को प्राप्त कर लेता है ॥८६॥]

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं यदेतदात्मस्वरूपेणावस्थानम एष विनयः शमोऽप्येष एव प्राकृतः स्वाभाविकोऽकृतक उच्यते। दमोऽप्येष एव प्रकृतिदान्तत्वात्स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्ब्राह्मणः। एवं यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वाञ्शममुपशान्तिस्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेद्ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥८६॥

क्या वह विद्वान् कुछ चेष्टा करता है ? अर्थात् नहीं करता। इसी को "उस तत्त्ववेत्ता का किसी कार्य से प्रयोजन नहीं रहता है" इत्यादि स्मृति वाक्य भी प्रमाणित कर रहा है ॥८५॥

जो यह स्वरूप से स्थितिरूप विनय है यही ब्रह्मवित् पुरुष का स्वाभाविक विनीतत्त्व है। उनका यह विनय ही स्वाभाविक शम भी कहा गया, क्योंकि ब्रह्मस्वभाव से ही उप शान्त हैं। यही प्राकृतिक दान्त होने से उनका दम भी यहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्वभाव से शान्त ब्रह्म को जानने वाला पुरुष ब्रह्म स्वरूपा स्वाभाविक उपशान्ति रूप सम को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि ऐसा तत्त्ववित् पुरुष ब्रह्मरूप से ही स्थित हो जाता है ॥८६॥

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥८७॥

[व्यावहारिक सद् वस्तु और उपलब्धि इन दोनों के सहित जो ग्राह्य ग्रहण रूप द्वैत है, (वेदान्तों में) लौकिक (जाग्रत) कहा जाता है तथा जो द्वैत वस्तु के बिना केवल उपलब्धि के सहित हैं, वह शुद्ध लौकिक (स्वप्न) कहा जाता है ॥८७॥]

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसारकारणानि रागद्वेषदोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि। अतो मिथ्यादर्शनानि तानीति तत्तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जितत्वद्रागादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव सम्यग्दर्शनमित्युपसंहृतम्। अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थ आरम्भः—सवस्तु संवृत्ति। सता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु। यथा चोपलब्धिरुपलम्भस्तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्राहकलक्षणं द्वयं लौकिकं लोकादनपेतं

विद्वानों की ज्ञेयवस्तु तीन प्रकार की है।

इस प्रकार परस्परविरुद्ध होने के कारण प्रावादुकों के दर्शन ऐसे राग द्वेषादि दोषों के केन्द्र हैं जो दोष संसार जन्ममरणादि के कारण माने गये हैं। अतः वे सभी मिथ्या दर्शन हैं। यह बात उन्हीं की युक्तियोंसे दिखाकरउक्त चारों कोटियों से रहित होने से जो राग द्वेषादि दोषों का आश्रय नहीं है, जो स्वभाव से शान्त है। वह अद्वैत दर्शन ही सम्यक् दर्शन है। इस प्रकार इस प्रसंग का उपसंहार किया जाता है, और इसके बाद अब अपनी प्रक्रिया दिखलाने के लिये आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। व्यावहारिक सद्वस्तु के सहित जो रहता हो, उसे सवस्तु कहते हैं तथा उपलब्धि के सहित जो रहता हो उसे सोपालम्भ कहते हैं। ऐसा शास्त्रादि सम्पूर्ण

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥८८॥

[जो वस्तु और उपलब्धि इन दोनों ग्राह्य ग्रहण से रहित लोकोत्तर अवस्था है वह सुषुप्ति मानी गयी है। इस प्रकार विद्वानों ने सदा ही अवस्थात्रय रूप ज्ञान, ज्ञेय तथा विज्ञेय (तुरीय संज्ञक अद्वय, अजन्मा, आत्मतत्त्व) का निरूपण किया है (अर्थात् लौकिक से लेकर विज्ञेय पर्यन्त तत्त्वों का निरूपण सदा ही विद्वानों ने किया) ॥८८॥]

लौकिकं जागरितमित्येतत्। एवंलक्षणं जागरितमिष्यते वेदान्तेषु। अवस्तु संवृत्तेरप्यभावात्। सोपलम्भं वस्तुवदुपलम्भनमुपलम्भोऽसत्यपि वस्तुनि तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शुद्धं केवलं प्रविविक्तं जागरितात्स्थूलाल्लौकिकं सर्वप्राणिसाधारणत्वादिष्यते स्वप्न इत्यर्थः ॥८७॥

व्यवहार का आधार शिलाग्राह्य ग्रहणात्मक जो द्वैत है, वह लौकिक है। यानी लोक से दूर न रहने वाला जाग्रत् कहलाता है। ऐसे लक्षण वाले को वेदान्त में जागरित माना है। व्यावहारिक वस्तु का अभाव होने के कारण जो अवस्तु रूप है, किन्तु सोपलम्भ है यानी वस्तु के न रहने पर भी वस्तु के समान उपलब्ध होने को उपलम्भ कहा गया है। ऐसे उपलम्भ के सहित जो रहता है, इसीलिये उसे सोपलम्भ कहते हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के लिये साधारण होने के कारण वह केवल शुद्ध है, अर्थात् जाग्रत् रूप स्थूल लौकिक से भिन्न यह लौकिक माना जाता है। भाव यह है कि वह स्वप्नावस्था है। जाग्रदवस्था में व्यावहारिकवस्तु और उसका ज्ञान दोनों ही होते हैं। इसलिये वह लौकिक कहा गया है। किन्तु वस्तु के विना ही उपलम्भ के सहित होने से स्वप्न को शुद्ध लौकिक कहा गया है यह इसका अभिप्राय है ॥८७॥

अवस्त्वनुपलम्भं ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतल्लोकोत्तरम्। अत एव लोकातीतम्। ग्राह्यग्रहणविषयो हि लोकस्तदभावात्सर्वप्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतदेवंस्मृतं सोपायं परमार्थतत्त्वं लौकिकम्। शुद्धलौकिकं लोकोत्तरंक्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञायते सज्ज्ञानं ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः। सर्वप्रावादुककल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावाद्विज्ञेयं परमार्थसत्यं तुर्याख्यमद्वयमजमात्मतत्त्वमित्यर्थः। सदा सर्वदैतल्लौकिकादिविज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मविद्भिः प्रकीर्तितम् ॥८८॥

जहाँ वस्तु और उपलम्भ दोनों ही नहीं हो, ऐसे ग्राह्य और ग्रहण से रहित जो अवस्था है वह लोकोत्तर कही जाती है। अतएव लोकातीत अवस्था यही कहलाती है क्योंकि जहाँ ग्राह्य और ग्रहण विषय हों ऐसे को ही लोक कहते हैं। उसके अभाव होने से सम्पूर्ण प्रवृत्तियों की बीजभूता वह सुषुप्तावस्था है, ऐसा कहा गया है। साधनसहित परमार्थतत्त्व, लौकिक, शुद्धलौकिक और लोकोत्तर अवस्थाको क्रमशः जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, उसी को वस्तुतः ज्ञान कहते हैं। इनमें से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों ही अवस्थाएँ ज्ञेय हैं, क्योंकि सभी वादियों के द्वारा कल्पित वस्तुओं का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। इनके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुको ज्ञेय होना असिद्ध है और जो परमार्थसत्य तुरीय नामक अद्वय, अजन्मा आत्मतत्त्व है केवल वही विज्ञेय है, ऐसा भावार्थ है। ये लौकिक से लेकर विज्ञेयपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुएँ परमार्थदर्शी ब्रह्मज्ञानी विद्वानों द्वारा सदासर्वदा ही अच्छी प्रकार से बतलायी गयी हैं ॥८८॥

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥८६॥

[तीन प्रकार के ज्ञान और ज्ञेय वस्तु को इस प्रकार क्रमशः जान लेने पर इस लोक में उस महान् विद्वान को सर्वत्र सर्वज्ञता स्वयं प्राप्त होती है। (अर्थात् वह सर्वरूप चैतन्य ब्रह्म स्वरूपता को सहज में प्राप्त कर लेता है) ॥८६॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये। ज्ञेये च लौकिकादौत्रिविधे। पूर्वं लौकिकं स्थूलम्। तदभावेन पश्चाच्छुद्धं लौकिकम्। तदभावेन लोकोत्तरमित्येवं क्रमेण स्थानत्रयाभावेन परमार्थसत्ये तुर्येऽद्वयेऽजेऽभये विदिते स्वयमेवाऽऽत्मस्वरूपमेव सर्वज्ञता सर्वश्चासौ ज्ञश्च सर्वज्ञस्तद्भावः सर्वज्ञता। इहास्मिल्लोंके भवति महाधियो महाबुद्धेः। सर्व-

---

उक्तत्रिविध ज्ञेय और ज्ञान को जानने वाला ही सर्वज्ञ है।

लौकिकादिविषय के प्रकाशक ज्ञान और लौकिकादि तीन प्रकार के ज्ञेय को क्रमशः जान लेने पर पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है अर्थात् पहले स्थूल लौकिक को उसके अभाव में फिर शुद्ध लौकिक को तथा उसके भी अभाव हो जाने पर सुषुप्ति रूप लोकोत्तर को जाने। इस प्रकार क्रमशः तीनों अवस्थाओं के अभाव हो जाने पर परमार्थ सत्य, अद्वय, अजन्मा और अभय स्वरूप तुरीय को जान लेने पर इस लोक में उस महापण्डित को सर्वदा स्वयं (आत्म स्वरूप) ही सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। जो सर्वरूप होता हुआ चेतन हो, उसे सर्वज्ञ कहते हैं, तथा उसी के भावरूप को सर्वज्ञता कही है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोकों से श्रेष्ठवस्तु को विषय करने वाली बुद्धि होने के कारण पूर्वोक्त तत्त्वज्ञानी को सभी काल में सर्वज्ञता सिद्ध ही है। भाव यह है कि अपना रूप एक बार विदित हो जाने पर उसका कभी भी व्यभिचार

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥९०॥

[(जाग्रदादि तीन) हेय, (सत्यब्रह्मरूप) ज्ञेय, (पाण्डित्य बाल्य और मौन नामक) प्राप्य साधन और रागद्वेषमोहादि कषाय) जीर्ण करने योग्य दोष—ये साधन पहले ही जानने योग्य हैं। इनमें से ज्ञेय ब्रह्म को छोड़कर अवशेष तीनों में मायामयत्व ही विद्वानों ने माना है ॥९०॥]

लोकातिशयवस्तुविषयबुद्धित्वादेवंविदः सर्वत्र सर्वदा भवति। सकृद्विदिते स्वरूपे व्यभिचाराभावादित्यर्थः। न हि परमार्थविदो ज्ञानिनः ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तो यथाऽन्येषां प्रावादुकानाम् ॥८९॥

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का परमार्थतो मा भूदित्याह—हेयानि च लौकिकादीनि त्रीणि जागरितस्वप्नसुषुप्तान्यात्मन्यसत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्धातव्यानीत्यर्थः। ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम्। आप्यान्याप्तव्यानि त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण भिक्षुणा पाण्डित्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि। पाक्यानि रागद्वेष-

---

नहीं होता। इसीलिये उसकी सर्वज्ञता सदा बनी रहती है, क्योंकि जैसे अन्यवादियों के ज्ञान उत्पन्न होते और अस्त होते रहते हैं। उस प्रकार परमार्थतत्त्वदर्शी ज्ञानी के ज्ञान का जन्म औरनाश नहीं होता ॥८९॥

लौकिकादि वस्तु को क्रमशः ज्ञेय रूप से निर्देश किया गया है। ऐसी स्थिति में परमार्थतः उसके अस्तित्त्व की आशंका न होने लग जावे, इसीलिये कहते हैं। लौकिकादि तीन हेय है, क्योंकि जैसे रज्जु में कल्पित सर्प त्याग ने योग्य है, ऐसे ही जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ आत्मा में असत् होने के कारण त्याग

प्रकृत्याऽऽकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन ॥६१॥

[सभी जीव को स्वभाव से आकाश के समान और अनादि समझना चाहिए । उनमें कहीं पर अणु मात्र भी नानात्व नहीं है । (आपाततः प्रतीत होने वाले औपाधिक भेद को लेकर ही जहाँ कहीं बहुवचन का प्रयोग किया गया है) ॥६१॥]

मोहादयो दोषाः कषायाख्यानि पक्तव्यानि । सर्वाण्येतानि हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयानि भिक्षुणोपायत्वेनेत्यर्थः । अग्रयाणतः प्रथमतस्तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्परमार्थसत्यं विज्ञेयं ब्रह्मैकंवर्जयित्वा । उपलम्भनमुपलम्भोऽविद्याकल्पनामात्रम् । हेयाप्यपाक्येषु त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्मविद्भिर्न परमार्थसत्यता त्रयाणामित्यर्थः ॥६०॥

परमार्थतस्तु प्रकृत्या स्वभावत आकाशवदाकाशतुल्याः सूक्ष्मनि-

ने योग्य है तथा पूर्वोक्त चारों कोटियों से रहित परमार्थ तत्त्व ही यहाँ पर ज्ञेय कहा गया है, और जिन्होंने लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा ऐसे बाह्य एषणात्रय का त्याग कर दिया है । उन मोक्षाभिलाषी यतियों के द्वारा श्रवण रूप पांडित्य, मननरूपबाल्य, और निदिध्यासन रूप मौन नामक साधन प्राप्त करने योग्य है, तथा राग द्वेष और मोहादि कषाय नामक दोष ही उक्त मुमुक्षु के लिये नष्ट करने योग्य होने के कारण पाक्य (पकाने योग्य) है । भाव यह है कि मुमुक्षु को हेय ज्ञेय, आप्य और पाक्य इन सभी को सर्व प्रथम अपने साधन रूप में जानने चाहिए । उन हेयादि में से केवल विज्ञेय एक परमार्थसत्य ब्रह्म को छोड़कर शेष हेय, आप्य और पाक्य इन तीनों को ब्रह्मवेत्ताओं ने केवल उपलम्भन अर्थात् अविद्यामय कल्पना मात्र ही माना है । तात्पर्य यह है कि इन हेयादि तीनों की परमार्थ सत्ता ब्रह्मवित् पुरुषों ने स्वीकार नहीं की है ॥९०॥

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥९२॥

(सूर्य के समान) स्वभाव से ही सभी आत्मा नित्य प्रकाश-स्वरूप तथा सुनिश्चित हैं। जिस मुमुक्षु को आत्मा के विषय में ऐसी शान्ति (निरपेक्ष बोध की दृढ़ता) रहती है, वह मोक्ष प्राप्ति के योग्य माना जाता है ॥९२॥

रञ्जनत्वसर्वगतत्वैः सर्वे धर्मा आत्मानो ज्ञेया मुमुक्षुभिरनादयो नित्याः। बहुवचनकृतभेदाशङ्कां निराकुर्वन्नाह—कचन किंचन किंचिदणुमात्रमपि तेषां च विद्यते नानात्वमिति ॥९१॥

ज्ञेयत्वाऽपि धर्माणां संवृत्यैव न परमार्थत इत्याह—यस्मादादो बुद्धा आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव एव यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितेवं नित्यबोधस्वरूपा इत्यर्थः। सर्वे धर्माः सर्वं आत्मानः। न च तेषां

जीव आकाशवत् अनादि और एक है

परमार्थ दृष्टि से तो मुमुक्षुओं को यही समझना चाहिए कि सभी जीव स्वभावतः सूक्ष्मत्व निरञ्जनत्व और सर्वगतत्वादि के कारण आकाश के समान हैं और अनादि अर्थात् नित्य है। श्लोक में आये बहुवचन के कारण जीवात्माओं के भेद की आशंका हो सकती थी उसे दूर करते हुए आचार्य गौडपाद कहते हैं कि उनका कहीं कुछ लेशमात्र भी नानात्व नहीं है, किसी भी देश, काल या अवस्था में कार्यकारणभाव से अथवा अंशांशी भाव से कहीं भी अणुमात्र भी भेद नहीं है। बहुवचन का प्रयोग तो केवल कल्पितभेद को लेकर किया गया है ॥९१॥

आत्माओं में ज्ञेयता भी व्यवहारिक दृष्टि से कही गयी है परमार्थतः नहीं। इसीलिये कहते हैं—जैसे सूर्य नित्यप्रकाश रूप है, वैसे ही सम्पूर्ण आत्मा स्वभाव से ही आदि बुद्ध अर्थात् आरम्भ

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः सुनिर्वृताः ।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्य विशारदम् ॥९३॥

[सभी आत्मा सदा ही शान्त स्वरूप, अजन्मा, स्वभाव से अत्यन्त उपरत सम और अभिन्न हैं। इस प्रकार आत्मतत्त्व अजन्मा समता रूप और विशुद्ध है (अतः नित्य मुक्तैक सर्वभाव आत्मा के लिये मोक्ष कर्तव्य नहीं है ॥९३॥]

निश्चयः कर्तव्यो नित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः। न संदिह्यमानस्वरूपा एवं नैवं चेति। यस्य मुमुक्षोरेवं यथोक्तप्रकारेण सर्वदा बोधनिश्चय-निरपेक्षताऽऽत्मार्थं परार्थं वा यथा सविता नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वार्थं परार्थं चेत्येवं भवति क्षान्तिर्बोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा स्वात्मनि सोऽमृतत्वायामृतभावाय कल्पते। मोक्षाय समर्थो भवतीत्यर्थः ॥९२॥

तथा नापि शान्तिकर्तव्यताऽऽत्मनीत्याह—यस्मादादिशान्ता नित्यमेव शान्ता अनुत्पन्ना अजाश्च प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः सुष्ठुपरत-

---

से ही जाने हुए नित्य बोध स्वरूप हैं। उनका निश्चय भी करना नहीं है अर्थात् वे नित्य निश्चित स्वरूप हैं। यह ऐसा ही है या ऐसा नहीं है, इसप्रकार सन्देह ग्रस्त स्वरूप नहीं है। जिस मुमुक्षु में इस पूर्वोक्त प्रकार से अपने या अन्य के लिये सदा सर्वदा बोध निश्चय सम्बन्धी निरपेक्षता है। जैसे सूर्य अपने या अन्य के प्रकाश के लिये किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता। वैसे ही जिसे सदा अपने आत्मा में शान्ति है। अतः स्वात्मबोध के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। वही अमृतभाव अर्थात् मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥९२॥

वैसे ही आत्मा में शान्ति के लिये कोई कर्तव्य नहीं है। इसे कहते हैं—क्योंकि सभी जीव सदा सर्वदा ही शान्त स्वरूप, अजन्मा

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥९४॥

[सदा अविद्या कल्पित द्वैत में ही विचरणे वाले वादियों को विशुद्धि निश्चय ही नहीं होती, क्योंकि भेद वादी भेद की ही ओर प्रवृत्त होते देखे गये हैं। अतएव वे दीन माने गये हैं ॥९४॥]

स्वभावः इत्यर्थः। सर्वे धर्माः समाश्चाभिन्नाश्च समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदं विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्मात्तस्माच्छान्तिर्मोक्षो वा नास्ति कर्तव्य इत्यर्थः। न हि नित्यैकस्वभावस्य कृतं किंचिदर्थवत्स्यात ॥९३॥

ये यथोक्तं परमार्थतत्त्वं प्रतिपन्नास्त एव कृपणा लोके कृपणा एवान्य इत्याह—यस्माद्भेदनिम्ना भेदानुयायिनः संसारानुगा इत्यर्थः। के। पृथग्वादाः पृथङ्नाना वास्तवत्येवं वदनं येषां ते पृथग्वादा द्वैतिन इत्यर्थः। तस्मात्ते कृपणाः क्षुद्राः स्मृता यस्माद्वैशारद्यं विशुद्धिर्नास्ति तेषां भेदे विचरतां द्वैतमार्गेऽविद्याकल्पिते सर्वदा वर्तमानानामित्यर्थः। अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्यमित्यभिप्रायः ॥९४॥

स्वभाव से ही अत्यन्त उपरत स्वरूप सम एवं अभिन्न हैं। इस प्रकार आत्मतत्त्व अजन्मा, साम्य रूप तथा विशुद्ध है। अतएव उसे मोक्षरूप शान्ति कर्तव्य नहीं है, किन्तु नित्य सिद्ध है, यह इसका तात्पर्य है। जो नित्य एक स्वभाव है, उसके लिये कुछ करना प्रयोजन नहीं रखता ॥९३॥

आत्मज्ञानी दीन नहीं होता

जो पूर्वोक्त परमार्थ तत्त्व को समझ चुके हैं, लोक में वे ही केवल अकृपण हैं। उनसे भिन्न सभी दीन ही हैं। इसी बात को कहते हैं—क्योंकि भेद की ओर जाने वाले सांसारिक हैं। कौन?

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥९५॥

[उस अज और साम्य रूप पदार्थ तत्त्व में जो कोई स्त्री, पुरुष ("यह ऐसा ही है" इस प्रकार) पूर्ण रूप से निश्चित होंगे, वे ही लोग में निरतिशय तत्त्ववेत्ता हैं। उनसे ज्ञात परमार्थ तत्त्व का अवगाहन सामान्य बुद्धि वाला पुरुष नहीं कर सकता ॥९५॥]

यदिदं परमार्थतत्त्वममहात्मभिरपण्डितैर्वेदान्तबहिष्ठैः क्षुद्रैरल्पप्रज्ञैरनवगाह्यमित्याह—अजे साम्ये परमार्थतत्त्व एवमेवेति ये केचित्स्त्र्यादयोऽपि सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेत्त एव हि लोके महाज्ञाना निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना इत्यर्थः तच्च तेषां वर्त्म विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः ।

जो भेदवादी हैं, नाना वस्तु है ऐसा जिनका कथन है, वे पृथक् वादी या द्वैती कहे गये हैं। इसीलिये वे भेदवादी कृपण यानी क्षुद्र माने गये हैं। क्योंकि अविद्यापरिकल्पितभेदवाद रूप द्वैत मार्ग में सदा विचरने वाले उन लोगों की विशुद्धि नहीं हो पाती। बस बस! इसी कारण से उनको कृपण कहा जाना भी ठीक ही है ॥९४॥

आत्मज्ञानी महान् पण्डित है

जो यह परमार्थतत्त्व है वह तुच्छ-बुद्धि, अविवेकी तथा वेदान्त के अनधिकारी, क्षुद्र और अल्प बुद्धि वाले पुरुषों से जानना अशक्य है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

यह परमार्थ तत्त्व ऐसा ही है। इस प्रकार अजन्मा साम्यरूप परमार्थ तत्त्व में जो कोई स्त्री आदि भी यदि अच्छी प्रकार से निश्चित हो जायेंगे तो, निःसन्देह वे लोक में महाज्ञानी अर्थात

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥९६॥

[अजन्मा आत्माओं में (सूर्य में उष्णता और प्रकाश के समान) अचल ज्ञान (सदा अर्थान्तर में) संक्रान्त न होने वाला माना जाता है। क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषयों में संक्रान्त नहीं होता। इसी-लिए (वह आकाश के समान) असंग कहा गया है ॥९६॥]

"सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च ।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥
शकुनीनामिवाऽऽकाशे गतिर्नैवोपलभ्यते"। (महा० शा० २३९।२३-२४) इत्यादिस्मरणात् ॥९५॥

कथं महाज्ञानत्वमित्याह—अजेष्वनुत्पन्नेष्वचलेषु धर्मेष्वात्म-स्वजमचलं च ज्ञानमिष्यते सवितरीवौष्ण्यं प्रकाशश्च यत्तस्माद-संक्रान्तमर्थान्तरे ज्ञानमजमिष्यते। यस्मान्न क्रमतेऽर्थान्तरे ज्ञानं तेन कारणेनासङ्गं तत्कीर्तितमाकाशकल्पमित्युक्तम् ॥९६॥

निरतिशय तत्त्व विषयक यथार्थ बोध वाले माने जायेंगे। उनके उस मार्ग यानी उनके द्वारा विदित परमार्थ तत्त्व में सामान्य बुद्धि वाले अन्य मनुष्य अवतरण नहीं कर सकते। यानी उस विषय को समझ नहीं सकते हैं। "जो सम्पूर्ण भूतों का आत्मभूत और सभी प्राणियों का हित कारक है उस आप्तकाम महात्मा के पद को जानने की इच्छा वाले देवता भी उस मार्ग में मोहित हो जाते हैं और जैसे पक्षियों के पद चिह्न आकाश में नहीं दीखते। इसी प्रकार उस तत्त्ववेत्ता की गतिका सर्वथा पता नहीं चलता" इत्यादि स्मृति वाक्य से भी उक्त अर्थ ही प्रमाणित होता है ॥९५॥

वे महाज्ञानी कैसे है? इस पर कहते हैं—जैसे सूर्य में उष्णता और प्रकाश स्वाभाविक एवं अचल है वैसे ही न उत्पन्न होने वाले

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।
असङ्गता सदा नास्ति किमुताऽऽवरणच्युतिः ॥९७॥

[(इससे भिन्न वादियों के मतानुसार थोड़ी भी विधर्मी वस्तु की उत्पत्ति मानने पर अविवेकी पुरुष की असंगता भी सदा सिद्ध नहीं हो सकती, फिर भला उसके बन्धनाश की बात तो दूर ही रही ॥९७॥]

इतोऽन्येषां वादिनामणुमात्रेऽल्पेऽपि वैधर्म्ये वस्तुनि बहिरन्तर्वा जायमान उत्पाद्यमानेऽविवेकिनोऽसङ्गताऽसङ्गत्वं सदा नास्ति किमुत वक्तव्यमावरणच्युतिर्बन्धनाशो नास्तीति ॥९७॥

अचल आत्माओं में ज्ञानी भी अजन्मा अर्थात् अचल ही माना गया है। अतः किसी दूसरे विषय में इस ज्ञान का संक्रमण यानी अनुप्रवेश नहीं होता। ऐसे विषयान्तर के साथ संसर्ग न रखने वाले इस ज्ञानको अजन्मा अर्थात् नित्य माना गया है, क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषय में संसर्ग नहीं रखता। इसीलिये उसे आकाश के समान असंग कहा गया है ॥९६॥

उत्पत्तिपक्ष में दोष

अजातवादी से भिन्न जो भी अन्यवादी हैं, उनके मतानुसार थोड़ी सी भी विधर्मी वस्तुका बाहर या भीतर किसी प्रकार से भी उत्पन्न होना माना जाय तो, वह अविवेक ही माना जायगा। ऐसी अविवेकियों की—असंगता स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि वस्तु की उत्पत्ति मानने पर उसके साथ ज्ञान का संसर्ग मानना ही पड़ेगा। फिर तो उसकी आवरणच्युति अर्थात् ऐसे अविवेकियों के बन्ध का नाश भो नहीं होता। इस विषय में तो कहना ही क्या है। भाव यह कि अजातवाद के अनुसार ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की असंगता

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः ॥९८॥

[सभी आत्मा अविद्यादि रूप बन्धन से शून्य, स्वभाव से ही विशुद्ध, नित्य बुद्ध और मुक्त स्वरूप है। फिर भी वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य लोग "आत्मा जान जाते हैं" ऐसा (नित्य प्रकाश स्वरूप होने पर भी सूर्य प्रकाशमान् है) आत्मा के विषय में कहते हैं ॥९८॥]

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं तर्हि धर्माणामावरणम् । नेत्युच्यते । अलब्धावरणाः । अलब्धमप्राप्तमावरणमविद्यादिबन्धनं येषां ते धर्मा अलब्धावरणा बन्धनरहिता इत्यर्थः । प्रकृतिनिर्मलाः स्वभावशुद्धा आदौ बद्धास्तथा मुक्ता यस्मा-

---

सिद्ध होती है, इसके विपरीत ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की अणु मात्र भी उत्पत्ति मानें, तो ऐसे विषय के साथ ज्ञान का संसर्ग अवश्य मानना होगा। फिर संसर्ग मानने पर मोक्ष की आशा ही दुराशा है ॥९७॥

आत्मा का परमार्थस्वरूप

यदि कोई शंका करे, कि उनके आवरण का ध्वंस नहीं होता है, ऐसा कहने वाले तुम अजातवादियों ने अपने सिद्धान्त में भी आखिर आत्माओं का आवरण मान ही लिया ?

इस पर सिद्धान्ती कहता है—कि नहीं। सभी आत्माओं में सर्वथा अविद्या रूप बन्धन है ही नहीं। इसीलिये आत्मा तो स्वभाव से अलब्धावरण अर्थात् बन्धन रहित है। ये आत्मा निर्मलप्रकृति होने के कारण स्वभाव से ही शुद्ध और नित्य बोध स्वरूप हैं। इसीलिये वे नित्य मुक्त हैं, क्योंकि वे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव कहे गये हैं।

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तापिनः।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ॥९९॥

[व्यापक ज्ञान वाले परमार्थ तत्त्वदर्शी का ज्ञान विषयान्तर में संक्रान्त नहीं होता और न (उसके मत में आकाश के सदृश) सभी आत्मा ही अर्थान्तर में संक्रान्त होते हैं, पर ऐसा ज्ञान उपदेश बौद्ध ने कहीं भी नहीं कहा। (अर्थात् बौद्ध दर्शन में कहीं पर भी इस तरह की बात नहीं कही गयी है, यह तो औपनिषद सिद्धान्त है) ॥९९॥]

न्नित्यबुद्धशुद्धमुक्तस्वभावः। यद्येवं कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते। नायकाः स्वामिनः समर्था बोद्धुं बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः। यथा नित्यप्रकाशस्वरूपोऽपि सविता प्रकाशत इत्युच्यते यथा वा नित्य-निवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलास्तिष्ठन्तीत्युच्यते तद्वत् ॥९८॥

यस्मान्न हि क्रमते बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो ज्ञानं विषयान्तरेषु

पू०—यदि आत्मा स्वभाव से ऐसे हैं, तो फिर 'वे जाने जाते हैं' ऐसा उनके विषय में कैसे कहा जाता है ?

सि०—जैसे नित्य प्रकाश स्वरूप होता हुआ भी सूर्य प्रकाशता है, ऐसा सूर्य के विषय में कहा जाता है और जैसे सदा सर्वदा गति शून्य होते हुए भी "पर्वत खड़े हैं" ऐसा पर्वत के विषय में कहा जाता है। ठीक वैसे ही नायक (स्वामी लोग) जानने में समर्थ अर्थात् बोध शक्ति सम्पन्न स्वभाव वाले व्यक्ति उनके विषय में "बुद्धयन्ते" ऐसा कहते हैं। श्लोक में "बुद्धयन्ते" इस आये हुए पद का अर्थ भाष्यकार ने "बोधशक्तिमत्स्वभावा" इस पद से कर दिया है अर्थात् आत्मा का स्वभाव ही बोध शक्तियुक्त है, ऐसा अर्थ किया गया है ॥९८॥

अजातवाद प्रच्छन्नबौद्धदर्शन नहीं है

जिसका ताय अर्थात् विस्तार हो, उसे तायी कहते हैं, क्योंकि

धर्मेषु धर्मसंस्थं सवितरीव प्रभा। तापिनः, तापोऽस्यास्तीति तापी, संतानवतो निरन्तरस्याऽऽकाशकल्पस्येत्यर्थः। पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा सर्वे धर्मा आत्मानोऽपि तथा ज्ञानवदेवाऽऽकाशकल्पत्वान्न क्रमते क्वचिदप्यर्थान्तर इत्यर्थः। यदादावुपन्यस्तं ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेने-त्यादि तदिदमाकाशकल्पस्य तापि(यि)नो बुद्धस्य तदनन्यत्वादा-काशकल्पं ज्ञानं न क्रमते क्वचिदप्यर्थान्तरे तथा धर्मा इति। आकाश-मिवाचलमविक्रियं निरवयवं नित्यमद्वितीयमसङ्गमदृश्यमग्राह्यमशा-नायाद्यतीतं ब्रह्मात्मतत्त्वम्। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० ४.३.२३) इति श्रुतेः। ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वमद्वय-मेतन्न बुद्धेन भाषितम। यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चाद्वयवस्तुसामीप्यमुक्तम्। इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः ॥९९॥

ऐसे तायी आकाश सदृश सन्तान वाले परमार्थदर्शी बुद्ध का ज्ञान विषयान्तररूपधर्मों में वैसे ही संश्लिष्ट नहीं होता, जैसे सूर्य की प्रभा किसी भी विषय के दोष गुण से संश्लिष्ट नहीं होती, यानी सदा सूर्य प्रभा के समान अजातवादी परमार्थदर्शी का ज्ञान आत्म-निष्ठ ही रहता है। वह परमार्थदर्शी आकाश के सदृश्य असंग है, इतना ही नहीं अपितु पूजावान् और प्रज्ञावान् भी है। न केवल ज्ञान आकाश के समान असंग है, किन्तु ज्ञान के समान ही सम्पूर्ण धर्म (आत्मा) भी आकाश सदृश होने के कारण कभी भी अर्थान्तर में संक्रमण नहीं करते यानी जाते नहीं। इस प्रकरण के प्रारम्भ में "ज्ञानेनाकाशकल्पेन" इत्यादि श्लोक द्वारा जो पहले कहा गया था। उस आकाश सदृश निरन्तर बोध युक्त ज्ञानी से उसका ज्ञान अभिन्न होने के कारण आकाश के सदृश है। इसीलिये यह ज्ञान कभी विषयान्तर में संक्रमित नहीं होता। और ऐसे ही जीव भी है, यानी वे भी आकाश के समान अचल निर्विकार निरवयव नित्य द्वैत शून्य

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥१००॥
इति गौडपादाचार्यकृता माण्डूक्योपनिषत्कारिकाः संपूर्णाः ।
ॐ तत्सत् ।

[दुर्दर्श (अत्यन्त कठिनता से दीखने वाला, अतएव) अति गंभीर अजन्मा निर्विशेष विशुद्ध और भेद रहित पद को यथावत जानकर हम यथा शक्ति नमस्कार करते हैं ॥१००॥]

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्ववस्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते। दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शम् । अस्ति नास्तीति चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्-दुर्विज्ञेयमित्यर्थः। अत एवातिगम्भीरं दुष्प्रवेशं महासमुद्रवदकृत-

---

असंग अदृश्य अग्राह्य और क्षुधा पिपासा से रहित ब्रह्मात्मतत्त्व भी है। "ऐसे ही द्रष्टा की दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता" यह श्रुति भी सिद्ध कर रही है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित इस अद्वितीय परमार्थ तत्त्व का गौतम बुद्ध ने तो निरूपण ही नहीं किया। यद्यपि बाह्यवस्तु का निराकरण और केवल ज्ञानमात्र की कल्पना, जो कि अद्वयवस्तु के समीपवर्ती है ऐसे विषय का उपदेश तो उन्होंने किया है। फिर भी ज्ञातादिभेदशून्य चिन्मात्र नित्य अद्वितीय परमात्मतत्त्व का उपदेश बुद्ध ने नहीं किया है और इसी अद्वैत परमार्थ तत्त्व को वेदान्तों में अपना विषय कहा है। यह इसका तात्पर्य है ॥९९॥

परमार्थतत्त्व की वन्दनाव्याज से ग्रन्थान्त में मंगल

अब शास्त्र की समाप्ति में परमार्थतत्त्व की स्तुति के लिये नमस्कार कहा जाता है, जिसका दर्शन कठिनता से हो सके, ऐसे अस्ति, नास्ति इत्यादि चारों कोटियों से रहित होने के कारण दुर्वि-

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगादगति
दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ।
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानां प्रणत-
भयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥१॥

प्रज्ञैः । अजं साम्यं विशारदम् । ईदृक्पदमनानात्मं नानात्ववर्जितं बुद्ध्वाऽवगम्य तद्भूताः सन्तो नमस्कुर्मस्तस्मै पदाय । अव्यवहार्यमपि व्यवहारगोचरमापाद्य यथाबलं यथाबलं यथाशक्तीत्यर्थः ॥१००॥

ज्ञेय वस्तु को दुर्दर्श कहते हैं । अतएव मन्दबुद्धियों के लिये समुद्र के समान दुःप्रवेश होने से जो अतिगम्भीर है तथा अजन्मा, साम्य रूप और विशुद्ध है । ऐसे भेदरहित पद को जानकर तद्रूप हो और उस व्यवहारातीतपद को भी व्यवहार का विषय बनाकर हम उसे यथा शक्ति नमस्कार करते हैं । जो परमार्थतः व्यवहारातीत है, ऐसे परमार्थ तत्त्व को माया शक्ति का अनुसरण कर व्यवहार का विषय मानकर स्तुति रूप फल के लिये नमस्कार किया गया है, ऐसा इसका तात्पर्य है ॥१००॥

ग्रन्थ के अन्त में भाष्यकारकी की हुई वन्दना

जो ब्रह्म वास्तव में अजन्मा है, फिर भी अपनी ईश्वरीय शक्ति के योग के कारण आकाशादि रूप से जन्म ग्रहण किया है । कूटस्थ और व्यापक होने के कारण गति रहित होता हुआ भी पूर्वोक्तशक्ति-योग से हिरण्यगर्भ भाव को प्राप्तकर जिसने गति स्वीकार की है तथा वस्तुतः एक अद्वितीय होता हुआ भी नानाप्रकार के विषय रूप धर्मों को ग्रहण करने वाले मूढदृष्टि के लोगों के विचार से जो अनेक हो गया है । एवं जो शरणागतों के भय को दूर करने वाला है, उस ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

प्रज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं
भूतान्यालोक्य मग्नान्यविरतजननग्राहघोरे समुद्रे ।
कारुण्यादुद्धारामृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतोर्यस्तं
पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि ॥२॥

परम गुरु को नमस्कार

निरन्तर जन्म धारण रूप ग्रहों के कारण जो अत्यन्त भयानक जान पड़ता है, ऐसे संसार समुद्र में डूबे हुए प्राणियों को देखकर दयावश अपने विशुद्ध बुद्धि रूप मथानी के आघात से क्षुभित हुए वेद नामक महासमुद्र के भीतर स्थित, देवताओं के लिये भी दुर्लभ इस ज्ञानामृत को जिन्होंने प्राणियों के कल्याण के लिये निकाल लिया है, उन पूज्यों के भी पूज्य परम गुरु श्री आचार्य गौड़पाद को उनके चरणों में पड़कर मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

यत्प्रज्ञालोकभासाप्रतिहतिमगमत्स्वान्तमोहान्धकारो
मज्जोन्मज्जच्च घोरे ह्यसकृदुपजनोदन्वतित्रासने मे ।
यत्पादावाश्रितानां श्रुतिशमविनयप्राप्तिरग्र्या ह्यमोघा
तत्पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावैर्नमस्ये ॥३॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
शंकरभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रविवरणेऽलात-
शान्त्याख्यं चतुर्थप्रकरणं समाप्तम् ॥४॥

ॐ तत्सत् ।

सद्गुरुदेव की वन्दना

जिनके ज्ञानालोक की प्रभा के द्वारा मेरे अन्तःकरण में भरा हुआ मोहान्धकार नष्ट हो गया और इस भयंकर संसार समुद्र में बारम्बार डूबना उछलना रूप मेरी व्यथाएँ भी शान्त हो गयी हैं ।

इतना ही नहीं, जिनके चरणों का आश्रय लेने वाले शिष्यों के वि
वेदान्तजन्य ज्ञान, उपरामता और विनय की प्राप्ति, श्रेष्ठ एवं सप
होने वाली है, उन श्री सद्गुरुदेव के जन्म मरणादि भयनाशक प
पवित्र चरण युगलों को मैं सर्वतो भावेन नमस्कार करता हूँ ॥३॥

ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्ति पाठः ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यंयतीन्द्रकुलतिलक कैलासपी
धीश्वर महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि विरचिता
माण्डूक्यकारिका शाङ्करभाष्यस्यविद्यानन्दी
मिताक्षरा समाप्ता ।

॥ श्री शङ्करः प्रीयताम् ॥

white, and then sandy earth; and

ड्यां दक्षिणेन कथितकरैः।
लं भवति चाशोष्यम्।।१४।।
कपिला पाण्डुरा ततः परतः।
ण परतो भवत्यम्भः।।१५।।

t-hill (or with an ant-hill closeby), there will be sweet and
e of three cubits to the south of the tree. There will be red
ale-white clay; then, sand mixed with gravel and beneath

को दृश्यते जलं पश्चात्।
गृहगोधिकार्द्धनरे।।१६।।

water should be declared to exist at a distance of three
n the earth is dug 2½ cubits, a white lizard will be found.

परस्यां ततो जलं भवति।
च दुण्डुभश्चिह्नम्।।१७।।

g with a Palasa tree, there would be water at a depth of
he symptom will be non-poisonous snake at a depth of

हस्तत्रयं तु याम्येन।
र्द्धनरे च मण्डूकः।।१८।।

stance of three cubits to the south of the place where a
tion in this case is a black frog at a depth of 2½ cubits.

दृश्यते शिरा तस्मिन्।
था वहति सा च।।१९।।
र्णश्च भवति पाषाणः।
ं मूषको याति।।२०।।

e-leaved fig tree (phalgu), there will be a westerly water
mptoms are pale yellow clay and white stone; and at

very same ant-hill, but elsewhere throughout he takes